ी-जन्म शताब्दी

ंलिलम् बुद्धिर् व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदम् श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

श्रुति-विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस् तदा योगम् अवाप्स्यसि ।।५३।।

[७]

अर्जुन अुवाच ।

स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव! ।
स्थित-धीः किं प्रभाषेत किम् आसीत व्रजेत किम् ।।५४।।

श्रीभगवान् अुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तु ... थत-प्रज्ञस तदो... ।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमना ... सु ... ष ... व ... पृ ...
वीत-राग-भय-क्रोधः स्थितधीर् ... निर् अुच्यते ।।५६।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस् तत् त ... शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प ... ता ।।

यदा सं ... कू ...
अिन्द्रिया ...

गीताबोध और मंगल-प्रभात

स... ब्रह्मचर्य अभय स्वदेशी
...द अपरिग्रह
अहिंसा
सर्वधर्म समानता
अस्पृश्यता निवारण अस्तेय
शरीर श्रम

गांधी-जन्म-शताब्दी संस्करण

गीता-बोध

और

मंगल प्रभात

मो० क० गांधी

गांधी स्मारक निधि और गांधी शान्ति प्रतिष्ठान
के सहयोग से तथा सस्ता साहित्य मण्डल
एवं नवजीवन ट्रस्ट के सौजन्य से
सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक : मन्त्री, सर्व सेवा संघ, वाराणसी
प्रतियाँ : १,००,०००; २ अक्तूबर, १९६९
मुद्रक : नरेन्द्र भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रास्ताविक

गीता महाभारतका एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मतसे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमें क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनोंमें देव और असुरके––राम और रावणके बीच नित्य चलनेवाली लड़ाईका वर्णन है। ऐसे वर्णनमें गीता कृष्ण-अर्जुनके बीचका संवाद है। उस संवादका वर्णन अंध धृतराष्ट्रसे संजय करता है। गीताके मानी हैं गायी गयी। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अतः पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीताका अर्थ हुआ श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देहमें अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-संकटमें अन्तर्यामी भगवान्से पूछेगा, उसकी शरण लेगा तो उस समय वह हमें शरण देनेको तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अंतर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछनेकी मनमें भी नहीं उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तकका नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपनेमें धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं और जब-जब मुसीबतमें पड़ते हैं, तब-तब अपनी मुसीबत दूर करनेके लिए हम गीताकी शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टिसे गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायँगे। गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियाँ सुलझा लेंगे। इस भाँति नित्य गीताका मनन करनेवालोंको उसमेंसे नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्मकी उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धाके कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो वह दूसरी बात है, पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपनेको सावधान रखनेके

लिए गीताका पारायण करते हैं। इस भाँति गीताका मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमेंसे मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियोंकी सहायताके लिए यहाँ दे रहा हूँ।

यरवदा-जेल —मो० क० गांधी

११-११-'३०

भूमिका

···जिस पुस्तकका हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तंभरूप बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उसपर अपने विचार देनेकी इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई···के पत्रने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। सबकी समझमें आने योग्य भाषामें अर्थ करनेका प्रयत्न करते हुए भी, शब्दशः अनुवाद देनेमें समझनेकी कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहाँ कठिन हो, वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषयको ही सरल रीतिसे रखनेका प्रयत्न करना चाहता हूँ। जिस वस्तुका हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायतासे अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं, उस ग्रंथको जितनी रीतियोंसे जैसे भी समझा जा सके, वैसे समझने और बार-बार उसका मनन करनेसे अन्तमें हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयोंमें गीता-माताके पास दौड़ा आता हूँ और अबतक आश्वासन पाता आया हूँ। दूसरोंको भी, जो उसमेंसे आश्वासन पानेके इच्छुक हैं, शायद, जिस रीतिसे मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूँ, वह रीति जानकर, कुछ अधिक मदद मिले। उस रीतिको जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

यरवदा-जेल —मो० क० गांधी

४-११-'३०

प्रार्थना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

ईशावास्यम् इदम् सर्वम्
यत् किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा (:)
मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।

नाम-माला

ॐ तत् सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू ।
सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्द विनायक, सविता पावक तू ।।
ब्रह्म मज्द तू यह्व शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू ।
रुद्र विष्णु तू, राम कृष्ण तू, रहीम ताओ तू ।।
वासुदेव गो विश्वरूप तू, चिदानन्द हरि तू ।
अद्वितीय तू, अकाल निर्भय, आत्मलिंग शिव तू ।।

एकादश-व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह ।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन ।।
सर्वधर्मसमानत्व. स्वदेशी, स्पर्शभावना ।
विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं ।।

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे,
वाच काछ मन **निश्चळ** राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने **तृष्णा** त्यागी, परस्त्री जेणे मात रे,
जिह्वा थकी **असत्य** न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,
रामनामशु टाळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्‍या रे,
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोत्तेर तार्‍या रे।

× × ×

सुने री मैंने, निर्बल के बल राम।
पिछली साख भरूं संतन की आड़े सँवारे काम॥
जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्‍यो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्‍यो आये आधे नाम॥
द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन गहलाय निजधाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये श्याम॥
अप-बल, तप-बल और बाहु-बल चौथो है वल दाम।
'सूर' किशोर कृपातें सब बल हारे को हरिनाम॥

●

गी ता - बो ध

अनुक्रम

पहला अध्याय

मंगलप्रभात
११-११-'३०

पांडव और कौरवोंके अपनी सेनासहित युद्धके मैदान कुरुक्षेत्रमें एकत्र होनेपर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर दोनों दलोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके बारेमें चर्चा करता है। युद्धकी तैयारी होनेपर दोनों ओरके शंख बजते हैं और अर्जुनके सारथी श्रीकृष्ण भगवान् उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्णसे कहता है कि मैं इन लोगोंसे कैसे लड़ूँ ? दूसरे हों तो मैं तुरंत भिड़ सकता हूँ, लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवोंके ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्होंने सब विद्याएँ सिखायी हैं। भीष्म तो हम सभीके पुरखा हैं। उनके साथ लड़ाई कैसी ? माना कि कौरव आततायी हैं, उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं, अन्याय किये हैं, पांडवोंकी जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासतीका अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं, पर मैं उन्हें मारकर कहाँ रहूँगा ? ये तो मूढ़ हैं, मैं इन-जैसा कैसे बनूँ ? मुझे तो कुछ समझ है, सारासारका विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनोंके साथ लड़नेमें पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डालें, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठायें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियोंसे नहीं लड़ूँगा।

इतना कहते-कहते अर्जुनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और वह अपने रथमें गिर पड़ा।

यह पहले अध्यायका प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषादके मानी दुःखके होते हैं। जैसा दुःख अर्जुनको हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासाके बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मनमें अच्छे और बुरेका भेद जाननेकी इच्छातक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी ? कुरुक्षेत्रका युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्म-क्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनायें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्रमें कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ 'मेरा'-'तेरा' को लेकर होती हैं। अपने-परायेके भेदभावसे पैदा होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान् अर्जुनसे कहेंगे कि 'राग', 'द्वेष' सारे अधर्मकी जड़ है। जिसे 'अपना' माना, उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष–वैरभाव आ गया। इसलिए 'मेरे'-'तेरे' का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेषको तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रंथ पुकार-पुकारकर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करनेकी भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझनेकी कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोमप्रभात
१७-११-'३०

अर्जुनको जब कुछ चेत हुआ तो भगवान्ने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहाँसे आ गया ? तेरे-जैसे

वीर पुरुषको यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुनका मोह यों टलनेवाला नहीं था। वह लड़नेसे इनकार करके बोला : "इन सगे-संबंधियों और गुरुजनोंको मारकर, मुझे राजपाट तो दरकिनार, स्वर्गका सुख भी नहीं चाहिए। मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। इस स्थितिमें धर्म क्या है, यह मुझे नहीं सूझता। मैं आपकी शरण हूँ, मुझे धर्म बतलाइये!"

इस भाँति अर्जुनको बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान्को दया आयी। वह उसे समझाने लगे: तू व्यर्थ दुःखी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञानकी बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देहमें रहनेवाले आत्माका भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्मसे ही नाशवान् है, देहमें जैसी जवानी और बुढ़ापा आता है, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देहका नाश होनेपर देहीका नाश कभी नहीं होता। देहका जन्म है, आत्माका जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। वह बढ़ता-घटता नहीं। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहनेवाला है। फिर तू काहेका शोक करता है? तेरा शोक तेरे मोहका कारण है। इन कौरव आदिको तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गयी है, पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देहसे तुझे ममता है, वह तो नाशवान् ही है। उसमें रहनेवाले जीवका विचार करनेपर तो तत्काल तेरी समझमें आ जायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानीमें डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा, तू अपने धर्मको तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय, तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरोंमें हुई है। अब यदि तू अधबीचमें लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागनेमें धर्म होता तो लोकनिंदाकी कोई

परवाह न थी, पर यहाँ तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिंदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धिकी दलील रखी, आत्मा और देहका भेद बताया और तेरे कुलधर्मका तुझे भान कराया, पर अब तुझे मैं कर्मयोगकी बात समझाता हूँ। इस योगपर अमल करनेवालेको कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्ककी बात नहीं है, आचरणकी है, करके अनुभव पानेकी बात है, और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्ककी अपेक्षा तोलाभर आचरणकी कीमत अधिक है। इस आचरणमें भी यदि अच्छे-बुरे परिणामका तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणामके विचारसे ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांडमें पड़कर अनेक प्रकारके फल पानेकी इच्छासे अनेक क्रियाएँ आरम्भ कर बैठते हैं। एकसे फल न मिलनेपर दूसरीके पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करनेमें उनकी मति भ्रममें पड़ जाती है। वास्तवमें मनुष्यका धर्म फलका विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म किये जानेका है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथमें नहीं है। तू गाड़ीके नीचे चलनेवाले कुत्तेकी भाँति इसका बोझ क्यों ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देहके साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्यको सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषयमें निश्चित रहकर तथा समता रखकर मनुष्यको अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसीमें कर्मकुशलता है। कार्यकी सिद्धि कार्यके करनेमें छिपी है, उसके परिणाममें नहीं। तू स्वस्थ हो, फलका अभिमान छोड़ और कर्तव्यका पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है: यह तो मेरे बूतेके बाहर जान पड़ता है। हार-जीतका विचार छोड़ना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि, कैसे आ

सकती है ? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धिवाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है ?

तब भगवान्ने जवाब दिया :

हे अर्जुन ! जिस मनुष्यने अपनी कामनामात्रका त्याग किया है और जो अपने अन्तरमें ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःखसे दुःखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख-दुःखादि पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं । इसलिए ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है, तब अपने अंगोंको ढालके नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्यकी इन्द्रियोंपर तो विषय नित्य चढ़ाई करनेको खड़े ही हैं, अतः उसे तो हमेशा इन्द्रियोंको समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयोंके मुकाबलेमें लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयोंसे बचनेको देह-दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमें इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवाससे रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़नेपर यह तो और भी बढ़ जाता है। रसको दूर करनेके लिए तो ईश्वरका प्रसाद चाहिए। इन्द्रियाँ तो ऐसी बलवान् हैं कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहनेपर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्यको इन्द्रियोंको हमेशा अपने वशमें रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है, जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवालेके हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छंदरूपसे बरतती हैं, वह नित्य विषयोंका ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फँस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तियोंसे काम पैदा

होता है। बादको उसकी पूर्ति न होनेपर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपेमें नहीं रह जाता। अतः स्मृतिभ्रंशके कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अंतमें नाशके सिवा और क्या होगा? जिसकी इन्द्रियाँ यों भटकती फिरती हैं, उसकी हालत पतवाररहित नावकी-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको इधर-उधर घसीट ले जाती है और अंतमें किसी चट्टानसे टकराकर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इन्द्रियाँ भटका करती हैं, उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इन्द्रियोंपर काबू रखना चाहिए। इससे इन्द्रियाँ न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आँखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दुःखीकी आवाज सुनेंगे। हाथ-पाँव सेवा-कार्यमें रुके रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गये समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है, वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दुःखमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहाँसे आयेगी? जिसे अच्छी भावना नहीं, उसे शांति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ? स्थिरबुद्धि मनुष्यको जहाँ दीपककी भाँति साफ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिर मनवाले दुनियाकी गड़बड़में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते, और ऐसी गड़बड़वालोंको जो स्पष्ट लगता है, वह समाधिस्थ योगीको स्पष्टरूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजरतक नहीं डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालोंका पानी जैसे समुद्रमें समा जाता है, वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमें समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भाँति हमेशा शान्त रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएँ तजकर, निरहंकार होकर, ममता

छोड़कर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्युतक टिकती है, वह मोक्ष पाता है।

तीसरा अध्याय

सोमप्रभात
२४-११-'३०

स्थितप्रज्ञके लक्षण सुनकर अर्जुनको ऐसा लगा कि मनुष्यको शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणोंमें कर्मका तो नामतक भी उसने नहीं सुना। इसलिए भगवान्से पूछा : "आपके वचनोंसे तो लगता है कि कर्मसे ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों उतार रहे हैं ? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमें है ?"

तब भगवान्ने उत्तर दिया :

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभसे ही इस जगत्में दो मार्ग चलते आये हैं : एकमें ज्ञानकी प्रधानता है और दूसरेमें कर्मकी। पर तू स्वयं देख ले कि कर्मके बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्मके ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा। जगत्का यह नियम होनेपर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मनमें तरह-तरहके मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इन्द्रियोंको वशमें रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुलके बिना, आसक्तिके बिना अर्थात् अनासक्तभावसे, मनुष्य हाथ-पाँवोंसे कुछ कर्म करे, कर्मयोगका आचरण करे ? नियत

कर्म--तेरे हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य--तू इंद्रियोंको वशमें रखकर करता रह। आलसीकी भाँति बैठे रहनेसे यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहनेवालेके शरीरका अंतमें पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्यके सिवा सारे कर्म लोगोंको बंधनमें रखते हैं। यज्ञके मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेपमें 'सेवा', और जहाँ सेवाके निमित्त ही सेवा की जायगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्माने जगत् उपजानेके साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कानमें यह मंत्र फूँका कि पृथ्वीपर जाओ, एक-दूसरेकी सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोंकी सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगोंका, जीवमात्रका, भाग उन्हें पहुँचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है--मजदूरी करता है--वह पापी है और पापका अन्न खाता है। सृष्टिका नियम ही यह है कि अन्नसे जीवोंका निर्वाह होता है। अन्न वर्षासे पैदा होता है और वर्षा यज्ञसे अर्थात् जीवमात्रकी मेहनतसे उत्पन्न होती है। जहाँ जीव नहीं हैं वहाँ वर्षा नहीं पायी जाती; जहाँ जीव हैं वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी हैं। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवोंके लिए जब यह सत्य है, तो मनुष्यके लिए यह कितने अधिक अंशमें लागू होना चाहिए ? इससे भगवान्‌ने कहा, कर्मको ब्रह्माने पैदा किया। ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मसे हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञमात्रमें--सेवामात्रमें--अक्षरब्रह्म, परमे-

श्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणालीका जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगलप्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नहीं है, उसे कर्म करनेसे कोई फायदा नहीं, न करनेसे हानि नहीं है। किसीके संबंधमें कोई स्वार्थ उसे न होनेपर भी यज्ञकार्यको वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्मका आचरण करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धिको प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहितके लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते हैं, उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घंटा, बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाणमें बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत्का क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायँ तो जगत्का नाश हो जाय और इन सबको गति देनेवाला, नियममें रखनेवाला तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगोंमें और मुझमें इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थमें पड़े भागते रहते हैं। यदि तुझ-जैसा बुद्धिमान् कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धिभ्रष्ट हो जायँगे। तुझे तो आसक्तिरहित होकर कर्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपनेमें मौजूद स्वाभाविक गुणोंके वश होकर काम तो करता ही रहेगा।

जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि 'मैं करता हूँ'। साँस लेना, यह जीवमात्रकी प्रकृति है, स्वभाव है। आँखपर किसी मक्खी आदिके बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं साँस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायँ, सब स्वाभाविक रीतिके गुणके अनुसार क्यों न किये जायँ? उनके लिए अहंकार क्या? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करनेका सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्यमेंसे अहंकारवृत्तिका, स्वार्थका, नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजालमेंसे छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहाँ स्वभावके अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कारसे न करनेका दावा करनेमें ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहरसे चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्मकी अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तवमें तो इंद्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानोंको यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाकको गुलाबके फूलकी सुगंधि भाती है, मल वगैरहकी दुर्गन्धि नहीं। सभी इंद्रियोंके संबंधमें यही बात है। इसलिए मनुष्य-को इन राग-द्वेषरूपी दो ठगोंसे बचना चाहिए और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मोंकी शृंखलामें न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथमें लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्सेमें जो सेवा आ जाय, उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेको तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्मसे चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है।

देखनेमें परधर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्मपर चलते हुए मृत्यु होनेमें मोक्ष है।

भगवान्‌के राग-द्वेषरहित होकर किये जानेवाले कर्मको यज्ञरूप बतलानेपर अर्जुनने पूछा : "मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है ? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।"

भगवान् बोले : "मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भाँति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान् शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुँधला हो जाता है, या अग्नि धुएँके कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्लीमें पड़े रहनेतक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्निके समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सबपर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियोंसे पहले निपट, फिर मनको जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमशः एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्यको आत्माकी अपनी शक्तिका पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इंद्रियाँ वशमें नहीं रहतीं, मन वशमें नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इंद्रियोंको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखनेवालेका काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।"

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुंजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है। अतः हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है, पर इतना जान लेनेभरसे वैसा हो जाना संभव नहीं

हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायँगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इंद्रिय-दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यकी अधिक झाँकी होती है। स्वार्थ-दृष्टिसे होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अतः अनासक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। इतना जाननेपर हमें इधर-उधरके वाद-विवादमें नहीं उलझना पड़ता। भगवान्ने अर्जुनको क्या सचमुच ही स्वजनोंको मारनेकी शिक्षा दी? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न आते रहते हैं। अनासक्ति आनेपर योंही हमारे हाथमें किसीको मारनेको छुरी हो तो वह भी छूट जाती है, पर अनासक्तिका ढोंग करनेसे वह नहीं आती। हमारे प्रयत्नपर वह आज आ सकती है अथवा, संभव है, हजारों वर्षतक प्रयत्न करते रहनेपर भी न आये। इसकी भी फिकर छोड़ देनी चाहिए। प्रयत्नमें ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मतासे जाँचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तवमें हो रहा है या नहीं। इसमें आत्माको धोखा नहीं देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभीके लिए संभव है।

चौथा अध्याय

सोमप्रभात
१-१२-'३०

भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है, वह बहुत प्राचीनकालसे चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्म-संकटमें है इसलिए, उसमेंसे मुक्त करनेके लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्मकी निंदा होती है और अधर्म फैलता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ और भक्तोंकी रक्षा करता हूँ, पापीका संहार करता हूँ। मेरी इस मायाको जो जाननेवाला

है, वह विश्वास रखता है कि अधर्मका लोप अवश्य होगा, साधु पुरुषका रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्मका त्याग नहीं करते और अंतमें मुझे पाते हैं, क्योंकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होनेके कारण काम-क्रोधादिसे मुक्त रहते हैं और तप तथा ज्ञानसे शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है, वैसा फल पाता है। मेरे नियमोंसे बाहर कोई रह नहीं सकता। गुण-कर्म-भेदसे मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ, क्योंकि मुझे इस कर्ममेंसे किसी फलकी आकांक्षा नहीं है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगत्में जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सब ईश्वरी नियमोंके अधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छासे रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है, वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्यको न करने योग्य कर्मका भी तुरंत पता चल जाता है। कामनासे सम्बद्ध कर्म, जो कामनाके बिना हो ही नहीं सकते, वे सब न करने योग्य कर्म कहलाते हैं--उदाहरणके लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है, उसके बारेमें कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मोंको जला डाला है। यों कर्मफलका संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रहमें नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान् पुरुषकी शारीरिक क्रियाएँ अपने-आप चलती रहती हैं, उसी प्रकार ऐसे मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ अपने-आप चला करती हैं। उनके अपने चलानेका उसे अभिमान नहीं होता, भानतक नहीं होता। वह स्वयं निमित्तमात्र रहता है--सफलता मिली तो भी 'वाह-वाह', न मिली तो भी। सफलतासे वह फूल

नहीं उठता, विफलतासे घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप, सेवाके लिए, होते हैं। वह सारी क्रियाओंमें ईश्वरको ही देखता है और अंतमें उसीको पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकारके कहे गये हैं। उन सबके मूलमें शुद्धि और सेवा होती है। इंद्रिय-दमन एक प्रकारका यज्ञ है, किसीको दान देना दूसरी प्रकारका। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए आरंभ किये जानेवाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरुसे प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवासे ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञके नामपर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायँ तो अज्ञानके निमित्त होनेके कारण, भलेके बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक कामके ज्ञानपूर्वक होनेकी पूरी आवश्यकता है।

यहाँ ज्ञानसे मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानमें शंकाकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धासे आरंभ होता है और अंतमें उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञानसे मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें देखता है और अपनेको ईश्वरमें देखता है। यहाँतक कि यह सब प्रत्यक्षकी भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापीको भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधनमेंसे मनुष्यको मुक्त करता है, अर्थात् कर्मका फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगत्में दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियोंको वशमें रखकर ऐसा ज्ञान पानेका प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमेंसे अनासक्तियोग क्या है, इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति--निष्कामतासे मिलनेका उपाय भी उनमें थोड़े-बहुत अंशमें बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायोंको यथार्थ रूपसे समझ लेनेपर आगेके अध्यायोंमें कम

कठिनाई पड़ेगी। आगेके अध्यायमें हमें अनासक्ति-प्राप्तिके साधनकी अनेक रीतियाँ बतलाते हैं। हमें इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओंको हम गीताद्वारा विना परिश्रमके हल कर सकेंगे। यह नित्यके अभ्याससे संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमाकर देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरंत उससे सम्बद्ध श्लोकका स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसीका द्वेष हो, अधीरता आये, आहारैषणा आये, किसी कामको करने या न करनेका संकट आये तो ऐसे सब प्रश्नोंका निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता-मातासे कराया जा सकता है। इसके लिए नित्यका यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ–१

मंगलप्रभात
२१-१०-'३०

हम यज्ञ शब्दका व्यवहार बार-बार करते हैं। हमने नित्यका महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्दका विचार कर लेना जरूरी है। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थके लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्मका विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थके लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवमात्र लेना चाहिए और अहिंसाकी दृष्टिसे भी, मनुष्य-जातिकी सेवाके लिए भी, दूसरे जीवोंका होमना या उनका नाश करना यज्ञकी गिनतीमें नहीं आ सकता। वेदादिमें अश्व, गाय इत्यादिको होमनेकी जो बात आती है, उसे हमने गलत माना है। वहाँ पशुहिंसाका अर्थ लें तो सत्य और अहिंसाकी तराजूपर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतनेसे हमने संतोष मान लिया है। जो वचन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका ऐतिहासिक अर्थ करनेमें हम नहीं

फँसते और वैसे अर्थोंके अन्वेषणकी अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यताकी प्राप्तिका प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थसे जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसाको सर्वोपरि धर्म माननेके कारण हमारे लिए उस अर्थको रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्याके अनुसार विचारनेपर हम देख सकते हैं कि जिस कर्ममें अधिक-से-अधिक जीवोंका, अधिक-से-अधिक क्षेत्रमें, कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलतासे कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अतः किसीकी भी सेवाके निमित्त अन्य किसीका कल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञके अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञके विना यह जग क्षणभर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकारने ज्ञानकी कुछ झलक दूसरे अध्यायमें दिखाकर तीसरे अध्यायमें उसकी प्राप्तिके साधनमें प्रवेश कराया है और साफ शब्दोंमें कहा है कि हम यज्ञको जन्मसे ही साथ लाये हैं। यहाँतक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थके लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरीका खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकारने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञसहित जन्मनेका मतलब है कि हम हरदमके ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जगके सदाके गुलाम हैं और जैसे स्वामी गुलामको सेवाके बदलेमें खाना-कपड़ा आदि देता है, वैसे हमें जगत्का स्वामी हमसे गुलामी लेनेके लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है, वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है, उतनेका भी हमें हक है, न मिलनेपर मालिकको दोष न दें। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे।

यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुखके अनुभवके लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वरको सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मोंमें पाया है।

पर इस वचनसे किसीको डरना नहीं चाहिए। मनको स्वच्छ रखकर सेवाका आरंभ करनेवालेको उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़नेको तैयार ही नहीं है, अपनी जन्मकी स्थितिको पहचाननेको ही तैयार नहीं, उसके लिए तो सेवाके सब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवामें तो स्वार्थकी गंध आती ही रहेगी, पर ऐसे स्वार्थी जगत्में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने लगनेसे हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगत्का कल्याण है।

यज्ञ—२

मंगलप्रभात
२८-१०-'३०

यज्ञके विषयमें पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीजको जन्मके साथ लेकर हमने इस संसारमें प्रवेश किया है, उसके बारेमें कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्तव्य है, चौबीसों घंटे आचरणमें लानेकी वस्तु है, इस विचारसे और यज्ञका अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतयः' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निजके ऊपर उपकार है। जैसे

कर्ज चुकाना परोपकार नहीं, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपरसे भार उतारना है, अपने धर्मको बचाना है। फिर कोई संतकी ही पूँजी 'परोपकारार्थ'–– अधिक सुंदर भाषामें कहिये तो––'सेवार्थ' हो, सो नहीं है, बल्कि मनुष्यमात्रकी पूँजी सेवार्थ है और यह होनेपर सारे जीवनमें भोगका खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है। या यों कहें कि मनुष्यका त्याग ही उसका भोग है। पशु और मनुष्यके जीवनमें यह भेद है। जीवनका यह अर्थ जीवनको शुष्क बना देता है, इससे कलाका नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचारको सदोष समझते हैं, पर मेरे खयालमें ऐसा कहना त्यागका अनर्थ करना है। त्यागके मानी संसारसे भागकर जंगलमें जा बसना नहीं है, बल्कि जीवनकी प्रवृत्तिमात्रमें त्यागका होना है। गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोचीका जूते सीना, किसानका खेती करना, व्यापारीका व्यापार करना और नाईका हजामत बनाना त्याग-भावनासे हो सकता है या उसमें भोगकी लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है, वह करोड़ोंके व्यापारमें भी लोकसेवाका ही खयाल रखेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा, करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हुए भी सादगीसे रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसीकी हानि नहीं करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ोंसे हाथ धो लेगा। कोई इस खयालसे न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पनामें बसता है। संसारके सौभाग्यसे ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनोंमें हैं। हों चाहे अँगुलियोंपर ही गिननेभरको, पर एक भी जीवित उदाहरण रखनेपर उसे फिर कल्पनाकी वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे दरजीको हमने वढ़वाणमें ही देखा है। ऐसे एक नाईको मैं जानता हूँ और ऐसे बुनकरको हम लोगोंमेंसे* कौन नहीं जानता ? देखने-ढूँढ़नेपर हम सब धंधोंमें केवल

---

* यानी आश्रमवासियोंमेंसे।

यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधेसे अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे धन्धा आजीविकाके निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधेका गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जीका धंधा करता था और ज्ञान होनके बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जानेसे उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गयी और पेशेमें दूसरेके सुखका विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवनमें कलाका प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसीमें है, क्योंकि उसमेंसे रसके नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोगका अंत नाश है, त्यागका अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्तिमें मौजूद है। एकको नाटकके पर्दोंमें मजा आता है, अन्यको आकाशमें नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्योंमें। रस परिशीलनका विषय है। जो रसरूपसे बचपनमें सिखाया जाता है, जिसे रसके नामसे जनतामें प्रवेश कराया जाता है, वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजाको रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजाको रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भावसे सेवा करते हैं, अतः लोगोंसे आवश्यकताभरको और अनावश्यक भी, लेनेका हमें परवाना मिल गया है। जहाँ किसी सेवकके मनमें यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गयी, सरदारी आयी। सेवामें अपनी सुविधाके विचारकी गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवककी सुविधा स्वामी--ईश्वर--देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवकको चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकताभरको

ही ले, बाकीका त्याग करे। अपनी सुविधाकी रक्षा न होनेपर भी शांत रहे, रोष न करे, मनमें भी खिन्नता न लाये। याज्ञिकका बदला, सेवककी मजदूरी, यज्ञ––सेवा ही है। उसीमें उसका संतोष है।

सेवा-कार्यमें बेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंतके लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो सँवारे, लेकिन पराया, बिना पैसेके करना है, इस खयालसे जैसा-तैसा या जब चाहे तब करनेमें भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञका ककहरा भी नहीं जानता। सेवामें तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेके लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

यज्ञ–३

(व्यक्तिगत पत्रोंमेंसे)

१३-११-'३०

चरखे और फ्रेंचके विषयमें तुमने जो लिखा है, उसमें भी सिद्धान्त-दृष्टिसे त्रुटि पाता हूँ। चरखेको सर्वार्पण करनेपर उस समयको दूसरे काममें नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो विवेकके खयालसे कर सकते हैं, पर बातोंके बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहाँ नहीं लग सकता। बातोंमेंसे तो जब चाहे छुट्टी पायी जा सकती है। बात करनेवाला भी बहुत देरतक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जानेपर तो वह पूरा समय देनेको मजबूर हो जाता है। यह सब तबके लिए है, जब कि चरखेको यज्ञरूपमें चलाते हों। अपने विषयमें मैं इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। चरखा चलाते समय जब अन्य विचारोंमें पड़ता हूँ, तब गतिपर, नंबरपर, समानतापर उसका असर

पड़ता है। कल्पना करो कि रोम्यां रोलां या बिथोवन पियानो-पर बैठे हैं। उसपर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मनमें अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानोके लिए सत्य हो तो फिर चरखायज्ञके लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचारक्षेत्रको बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओंकी आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूँ, मुझे आलोचना करनेका हक भी कहाँ है? जितना जानता हूँ, उसपर मैं खुद कहाँ पूरी तरह चलता हूँ? चलता होता तो कबका चरखा सात लाख गाँवोंमें गूँज जाता। आज भी जो जानता हूँ, उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकूँ तो मेरे यहाँ बैठे भी चरखा हवाकी तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराणकी चर्चासे थकें तो मैं चरखा-संगीतकी बातोंसे थकूँ। चरखा-पुराण तो कैसे कहूँ? पुराण तो भविष्यकी पीढ़ी रचेगी, बशर्ते कि हम कुछ रचने लायक कर जायँगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा संगीत रच रहे हैं। अंतमें उसमें कैसा सुर निकलता है, यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पणपर निर्भर रहेगा।

···मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञके समय मौन हो। उस समय जो विचार हो, वह चरखे, या कहो खादीसंबंधी अथवा राम-नामका हो। राम-नामको विस्तृत अर्थमें लेना चाहिए। वास्तवमें तो राम-नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीतमें तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हों, उसमें हम एक-ध्यान न हों तो राम-नामका इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चरखा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्तव्य है तो उतने समयके लिए उसमें लीन हो जाना

चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है, वह एक समयमें एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पाधिक प्रमाणमें) मैं ही पहला पापी ठहरता हूँ, क्योंकि कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांतमें बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मौनवारके दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसीकी कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहाँ भी नहीं गयी। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातनेमें बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया और घंटेमें मुश्किलसे २०० तारतक अब पहुँचा हूँ! और भी अनेक दोष अपनेमें पाता हूँ, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरखका अल्पज्ञान, रूईकी किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरहसे न निकाल सकना, तारकी परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिकको शोभा देता है? फिर खादीकी गति धीमी रह गयी तो इसमें क्या आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारायण है और उसके होनेमें कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूँ, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है। इसलिए इस विषयमें किसी औरको दोषी ठहरानेका जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोषका, दुःखका और उसमेंसे उत्पन्न होनेवाले खयालका और ज्ञानका दर्शन कराना चाहता हूँ। यद्यपि काकाके साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टतासे तो यही पहले-पहल तुमसे कर रहा हूँ और यह स्पष्टता भी आयी तुम्हारे उस फ्रेंचको चरखेके साथ जोड़नेके कारण। तुमने जो किया, उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूँ कि चरखेका कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूँ मैं। मंत्रको तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचारमें नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चरखेकी भाँति ही इस बातको सारे जीवनपर घटाकर देखो तो कल्पनामें तो

तुम्हें जीवनकी अद्भुत शांतिका अनुभव होगा और सफलताका भी। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बातको ध्यानमें रखकर जितना हो सके, उतना ही करनेको हाथमें लें और संतोष मानें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे हम अपनेको और समाजको अधिक-से-अधिक आगे बढ़ानेमें अपना कर्तव्य करते हैं। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले, तबतक तो यह कोरा पांडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशामें बढ़ तो रहा हूँ। बाहर निकलनेपर क्या होगा, वह भगवान् जाने। तुम इसमेंसे बन सके तो इतना तो अमलमें ला सकते हो कि यज्ञके निमित्त जितने तार तय कर लो, उतने तो शास्त्रीय रीतिसे कातो। बाकी तो चाहो जिस दिशामें हिन्दुस्तानकी संपत्ति बढ़ानेके इरादेसे कातते रहो। अभी लिखते जानेकी इच्छा होती है। पर अब बस करता हूँ।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन कहता है: "आप ज्ञानको विशेष बतलाते हैं। इसमें मैं समझता हूँ कि कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्मकी भी स्तुति करते हैं, तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनोंमें अधिक अच्छा क्या है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान् बोले: संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनों अच्छे हैं, पर यदि तुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूँ कि योग अर्थात् अनासक्ति-पूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य-का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वोंसे परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहजमें

बंधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योगमें भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनोंसे वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा जाननेवाला वही है, जो दोनोंको एक ही समझता है, क्योंकि शुद्ध ज्ञानवालेकी संकल्प-भरसे कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करनेकी उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी, तब दूसरोंका धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनकके संकल्पसे ही उनका आग बुझानेका कर्तव्य पूरा हो रहा था, क्योंकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते और विशेष भलमनसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनककी रक्षा करने दौड़ते। पर सब झट-पट जनक नहीं बन सकते। जनककी स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ोंमेंसे किसीको अनेक जन्मोंकी सेवासे वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नहीं है कि इसकी प्राप्तिपर कोई विशेष शांति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्यका संकल्पबल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तवमें देखनेपर उसे इसका पता भी नहीं चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्यमें ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे सेवासे कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अंतमें उसके संकल्पमें ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोरसे गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्षरूपसे अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणतः कल्पनाकी ही वस्तु है, अनुभवमें नहीं आती। इसलिए मैंने कर्मयोगको विशेष कहा है। करोड़ों निष्काम कर्ममेंसे ही संन्यासका फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायँ तो इधर या उधर, कहींके न रहेंगे। संन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जानेकी पूरी संभावना

है, और कर्मसे तो गये ही, मतलब सब खोया, पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने अपनी इंद्रियोंको वशमें रखा है, जिसने सब जीवोंके साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बंधनमें नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्यके बोलने-चालने आदिकी क्रियाएँ करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओंको इंद्रियाँ अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीरसे आरोग्यवान् मनुष्यकी क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं, उनकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरोग्यवान् है, उसके लिए कहा जा सकता है कि शरीरमें रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्मके ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्यका पुंज नहीं रचता। पानीमें कमलकी भाँति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्तिका अभ्यास कर लिया है, वह योगी कायासे, मनसे, बुद्धिसे कार्य करते हुए भी, संगरहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा रोगी, जो परिणाममें फँसा हुआ है, कैदीकी भाँति अपनी कामनाओंमें बँधा रहता है। इस नौ दरवाजेवाले देहरूपी नगरमें सब कर्मोंका मनसे त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान् संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्ममें आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फलका त्याग किया, वह जड़की भाँति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है। भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते हैं? इसके विपरीत जो अज्ञानमें फँसा है, वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचेको गिरता जाता है और अंतमें

उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञानसे अपने अज्ञानका नित्य नाश करते जानेवालेके कर्ममें नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसारकी दृष्टिमें उसके कर्मोंमें पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरोंमें विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन——पशुसे भी गया-बीता——मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भावसे सेवा करेगा——यह नहीं कि किसीको बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरेको तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपनेको सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकायेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगत्को जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करनेवालेपर वह रीझता नहीं, गाली देनेवालेपर खीझता नहीं। आसक्तिवान् सुखको बाहर ढूँढ़ता है, अनासक्त निरंतर भीतरसे शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहरसे जीवको समेट लिया है। इंद्रियजन्य सारे भोग दुःखके कारण हैं। मनुष्यको काम-क्रोधसे उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियोंके हितमें ही लगा रहता है। वह शंकाओंसे पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगत्से निराला रहता है, प्राणायामादिके प्रयोगोंसे अंतर्मुखताका यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदिसे पृथक् रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादिक भोक्ताकी भाँति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगलप्रभात
१६-१२-'३०

श्री भगवान् कहते हैं——कर्म-फल त्यागकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता

है। जो क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। असली बात तो है मनके घोड़े दौड़ाना छोड़नेकी। जो योग अर्थात् समत्वको साधना चाहता है, उसकी कर्म बिना गुजर ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हो गया है, वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्रमें कर्मका बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इंद्रियके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त न हो और मनकी सारी तरंगोंको छोड़ दे, तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्माका उद्धार आत्मासे ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मनको जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है, उसका आत्मा शत्रु है। मनको जीतनेवालेकी पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंपर विजय पायी है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादिके प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थितिको पहुँचनेके लिए मन स्थिर करना, वासनाएँ त्यागना और एकांतमें बैठकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकोंको ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका भली प्रकार पालन करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमोंका पालन करनेवाले मनुष्यको अपना मन परमात्मामें स्थिर करनेसे परम शांति प्राप्त होती है।

यह समत्व ठूँस-ठूँसकर खानेवाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवाससे भी नहीं मिलता, न बहुत सोनेवालेको मिलता है, वैसे ही बहुत जागनेसे भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकको तो सबमें—खानेमें, पीनेमें, सोने-जागनेमें भी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास; एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण; एक

दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना, यह योगकी निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और कामनामात्रका वह अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी-की स्थिति निर्वात स्थानमें दीपककी भाँति स्थिर रहती है। उसे जगके खेल अथवा अपने मनमें उठनेवाले विचारोंकी लहरें डाँवाडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे, किंतु दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करनेसे यह योग सध सकता है। मन चंचल है, इससे इधर-उधर दौड़ता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होनेसे ही शांति मिलती है, या मनकी स्थिरताके लिए निरंतर आत्मचिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवों-को अपनेमें और अपनेको सबमें देखता है, क्योंकि वह मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वयं नहीं रह गया है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमें पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथसे कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुनको यह योग कठिन लगा। वह बोला : "यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो? मन तो बंदरके समान है। मनका रोकना हवा रोकनेके समान है। ऐसा मन कब और कैसे वशमें आता है?"

भगवान्‌ने उत्तर दिया : "तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेषको जीतने और प्रयत्न करनेसे कठिनको आसान किया जा सकता है। 'निस्संदेह' मनको जीते बिना योगका साधन नहीं बन सकता।"

तब फिर अर्जुन पूछता है : "मान लीजिये कि मनुष्यमें श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होनेसे वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है? वह बिखरे बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?"

भगवान् बोले : "ऐसे श्रद्धालुका नाश तो होता ही नहीं। कल्याण-मार्गीकी अवगति नहीं होती। ऐसा मनुष्य मरनेपर

कर्मानुसार पुण्यलोकमें बसनेके बाद पृथ्वीपर लौट आता है और पवित्र घरमें जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकोंमें दुर्लभ है। ऐसे घरमें उसके पूर्व-संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्नमें तेजी आती है और अंतमें उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मोंके बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्नके बलके अनुसार समत्वको पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकांड-संबंधी कर्म——इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादिका अंतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करनेवालोंको श्रेष्ठ समझ।"

इस अध्यायमें प्राणायाम-आसन आदिकी स्तुति है। पर स्मरण रखें कि भगवान्‌ने उसीके साथ ब्रह्मचर्यका अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके यम-नियमादि पालनकी आवश्यकता बतलायी है। यह समझ लेना आवश्यक है कि अकेली आसनादि क्रियासे कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतुसे वे क्रियाएँ हों तो आसन-प्राणायामादि मनको स्थिर करनेमें, एकाग्र करनेमें, थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामों-की श्रेणीमें समझकर उतनी ही——शरीर-सुधारभर ही——कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायामरूपमें प्राणायामादिका बहुत उपयोग है। व्यायामोंमें यह व्यायाम सात्त्विक है। शारीरिक दृष्टिसे इसका साधन उचित है, पर उससे सिद्धियाँ पाने और चमत्कार देखनेको ये क्रियाएँ करनेमें मैंने लाभके बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायका उपसंहाररूप समझना चाहिए। यह प्रयत्न-शीलको आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करनेका प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

मंगलप्रभात
२३-१२-'३०

भगवान् बोले : "हे पार्थ, अब मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि मुझमें चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे सम्पूर्ण रीतिसे कैसे पहचान सकता है । इस अनुभवयुक्त ज्ञानके बाद फिर और कुछ जाननेको बाकी नहीं रहेगा । हजारोंमें कोई-कोई ही उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमें कोई ही सफल होता है ।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकारकी एक मेरी प्रकृति है । इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरेको 'परा' प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है । इन दो प्रकृतियोंसे अर्थात् देह और जीवके संबंधसे सारा जगत् है । जैसे मालाके आधारपर उसके मणि रहते हैं, वैसे जगत् मेरे आधारपर विद्यमान है । तात्पर्य, जलमें रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्रका तेज मैं हूँ, वेदोंका ॐकार मैं हूँ, आकाशका शब्द मैं हूँ, पुरुषोंका पराक्रम मैं हूँ, मिट्टीमें सुगंध मैं हूँ, अग्निका तेज मैं हूँ, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूँ, तपस्वीका तप मैं हूँ, बुद्धिमान्की बुद्धि मैं हूँ, बलवान्का बल मैं हूँ, जीवमात्रमें विद्यमान धर्मकी अवरोधी कामना मैं हूँ, संक्षेपमें सत्त्व, रजस् और तमस्से उत्पन्न होनेवाले सब भावोंको मुझसे उत्पन्न हुआ जान, उनकी स्थिति मेरे आधारपर ही है । मेरी त्रिगुणी मायाके कारण इन तीन भावों या गुणोंमें रचे-पचे लोग मुझ अविनाशीको पहचान नहीं सकते । उसे तर जाना कठिन है, पर मेरी शरण लेनेवाले इस मायाको अर्थात् तीन गुणोंको लाँघ सकते हैं ।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं, जिनके आचार-विचारका कोई ठिकाना नहीं है ? वे तो मायामें पड़े

अंधकारमें ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञानसे वंचित रहते हैं, पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दुःख दूर करनेको मुझे भजता है, कोई मुझे पहचाननेकी इच्छासे भजता है और कोई कर्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजनेका अर्थ है, मेरे जगत्‌की सेवा करना। उसमें कोई दुःखके मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्तिकी इच्छासे, कोई इस खयाल-से कि चलो देखा जाय, क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके विना उनसे रहा ही नहीं जाता, सेवापरायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं और मैं कहूँगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं, या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मोंके बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पानेपर इस जगत्‌में मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओंको भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति, उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूँ। उन ओछी समझवालोंको मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है, और उतनेसे ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कमअक्लीसे मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियोंद्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियोंसे परे है तथा हाथ, कान, नाक, आँख इत्यादि द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजोंका विधाता होनेपर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं सकते। राग-द्वेषके द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत् मोहग्रस्त रहता है, पर जो उसमेंसे छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं, वे तो अपने व्रतमें निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूपसे सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूपमें रहे हुए मुझे और मेरे कर्मको जानते हैं। यों जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपसे पहचानते हैं और इससे

जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्युके अनतर जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि इतना जान लेनेपर उनका मन अन्यत्र नहीं भटकता और सारे जगत्को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वरमें ही समा जाते हैं।"

आठवाँ अध्याय

सोमप्रभात
२९-१२-'३०

अर्जुन पूछता है: "आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञका नाम लिया, पर इन सबका अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूतरूपसे जानकर समत्वको प्राप्त हुए लोग मृत्युके समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवान्ने उत्तर दिया: जो सर्वोत्तम नाशरहितस्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्रमें कर्ता-भोक्तारूपसे देह धारण किये हुए है, वह अध्यात्म है। प्राणीमात्रकी उत्पत्ति जिस क्रियासे होती है, उसका नाम कर्म है। अतः यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रियासे उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। मेरा नाशवान् देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ है। यों देहरूपमें, मूर्च्छित जीवरूपमें, शुद्ध जीवरूपमें और पूर्ण ब्रह्मरूपमें सर्वत्र मैं ही हूँ और ऐसा जो मैं हूँ, उसका मृत्युके समयमें जो ध्यान धरता है, अपनेको बिसार देता है, किसी प्रकारकी चिंता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह निस्संदेह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूपका नित्य ध्यान धरता है, अंतकालमें भी उसका ध्यान रहे तो उस स्वरूपको वह पाता है और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पायेगा। तू इस प्रकार चित्तके स्थिर न हो पानेकी बात

कहेगा। मेरा कहना है कि नित्यके अभ्याससे, नित्यके प्रयत्नसे इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है, क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हूँ कि मूलकी दृष्टिसे विचारनेपर तो देहधारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्युके समय मन चलायमान न हो, भक्तिमें लीन रहे, प्राणको स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालनकी शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्यके समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्माका ही स्मरण करे।

इस परमपदको वेद अक्षरब्रह्म नामसे पहचानते हैं, राग-द्वेषादि-त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पदकी प्राप्तिके सब इच्छुक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मनको अंकुशमें रखते हैं, विषयमात्रका तीनों प्रकारसे त्याग करते हैं। इंद्रियोंको समेट लेकर ॐका उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परमपद पाते हैं। ऐसोंका चित्त कहीं अन्यत्र नहीं भटकता और यों मुझे पाकर यह दुःख-निवासरूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्षके जीवनकालसे मनुष्य कालका अनुमान लगाता है और उतने समयमें हजारों जाल फैलाता है, पर काल तो अनंत है। हजारों युगोंको ब्रह्माके एक दिनके बराबर समझ। इसमें मनुष्यके एक दिनकी या सौ वर्षकी क्या बिसात? इस तनिकसे समयको लेकर इतनी व्यर्थकी दौड़-धूप क्यों? जिस अनंत कालके चक्रमें मनुष्यका जीवन क्षणमात्रके समान है, उसमें तो ईश्वरका ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगोंके पीछे दौड़ना नहीं। ब्रह्माके रात-दिनमें उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे

मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कुछ वर्णन मैंने तुझसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरणसे छूट जाता है, क्योंकि इस स्वरूपके लिए रात-दिनवाला द्वन्द्व नहीं है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं। इसीके आधारपर सारा जगत् है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं कि उत्तरायणके शुक्लपक्षके दिनोंमें मरनेवाला उपर्युक्त प्रकारसे स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायनमें, कृष्णपक्षकी रात्रिमें, मृत्यु पानेवालेके पुनर्जन्मके चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको मोक्ष है और अज्ञानमार्गसे चलनेवालेको बंधन। इन दोनों मार्गोंको जान लेनेपर कौन मोहमें रहकर अज्ञानमार्गको पसंद करेगा? इतना जाननेपर मनुष्यमात्रको सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्तव्यमें परायण रहकर मैंने जो कहा है, वह उत्तम स्थान पानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

नवाँ अध्याय

सोमप्रभात
५-१-'३१

गत अध्यायके अंतिम श्लोकमें योगीका उच्च स्थान बतला देनेपर भगवान्के लिए अब भक्तिकी महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है, क्योंकि गीताका योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीताका योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अतः भगवान् कहते हैं—तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्य ज्ञान कहता हूँ कि जिसे

पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचारमें अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती, वह मुझे नहीं पा सकता। मेरे स्वरूपको मनुष्यप्राणी इंद्रियोंद्वारा नहीं पहचान सकते, तथापि इस जगत्‌में वह व्यापक है। जगत् उसके आधारपर स्थित है। वह जगत्‌के आधारपर नहीं है। फिर यों भी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि मैं उनकी उत्पत्तिका कारण हूँ और उनका पोषणकर्ता हूँ। वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि वे अज्ञानमें रहनेके कारण मुझे जानते नहीं हैं, उनमें भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियोंमें नहीं हूँ, ऐसा जान पड़ता है, तथापि वायुकी भाँति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूँ और सारे जीव युगका अंत होनेपर लय हो जाते हैं और आरंभ होनेपर फिर जन्मते हैं। इन कर्मोंका कर्ता होनेपर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं है, क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, मैं उनमें उदासीन हूँ। वे कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूँ, उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्वसे ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञानसे भरपूर होनेके कारण आसुरी वृत्तिवाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले अविनाशी और सिरजनहार जानकर मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान् रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूपसे मानते हैं। मेरे अनंतगुण होनेके कारण बहुरूपसे माननेवाले भिन्न गुणोंको भिन्न रूपसे देखते हैं, पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञका संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरोंका आधार मैं, यज्ञकी वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगत्-

का पिता मैं, माता मैं, जगत्को धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हूँ।

वेदमें वर्णित क्रियाएँ फल-प्राप्तिके लिए होती हैं। अतः उन्हें करनेवाले स्वर्ग चाहे पायें, पर जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूटते। पर जो एक ही भावसे मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूँ। उनकी आवश्यकताएँ मैं पूरी करता हूँ और उनकी मैं ही सँभाल करता हूँ। अन्य कुछ, दूसरे देवताओंमें श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं। इसमें अज्ञान है, तथापि अंतमें तो वे भी मुझे ही भजनेवाले माने जायँगे, क्योंकि यज्ञमात्रका मैं ही स्वामी हूँ। पर मेरी इस व्यापकताको न जानकर वे अंतिम स्थितिको पहुँच नहीं सकते। देवताओंको पूजनेवाले देवलोक, पितरोंको पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्तातक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्नशील मनुष्योंकी भक्तिको मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए जो कुछ तू करे, वह सब मुझे अर्पण करके ही कर। तब शुभ-अशुभ फलका उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फलमात्रका त्याग कर दिया, तब तेरे लिए जन्म-मरणके चक्कर नहीं रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसमें पक्षपात नहीं है, बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्तिका फल पाया है। इस भक्तिका चमत्कार ऐसा है कि जो एक भावसे मुझे भजते हैं, वे दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं। सूर्यके सामने जैसे अँधेरा नहीं ठहरता, वैसे मेरे पास आते ही मनुष्यके दुराचारोंका नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति

करनेवाले कभी नाशको प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्तिकी महिमा ऐसी है कि जो पापयोनिमें जनमे माने जाते हैं वे, और निरक्षर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे, मुझे पाते ही हैं, तब पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियोंका तो कहना ही क्या रहा! जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जब असार संसारमें आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमें पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुँचा और इस भाँति मुझमें तू परायण होगा और अपनी आत्माको मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पायेगा।

मंगलप्रभात

टिप्पणी : इसमेंसे हम पाते हैं कि भक्तिका तात्पर्य है ईश्वरमें आसक्ति। अनासक्तिके अभ्यासका भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इसीसे अध्यायके आरंभमें प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदयमें जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसीसे उसे 'सिरका सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेलकी कड़ाहीमें सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए काँपते थे। कथा है कि नंद अंत्यजकी जब अग्निपरीक्षा हुई, तब वह अग्निमें नाचता था। इन सबकी सचाईकी ऐतिहासिकताकी खोजकी जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीजमें लीन होता है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनेको भूल जाता है, पर प्रभुको छोड़कर दूसरेमें लीन कौन होगा?

'शक्कर गन्नेका स्वाद छोड़ कड़ुवे नीमको मत घोल रे,
सूरज-चाँदका तेज तज, जुगनूसे मन मत जोड़ रे।'

अतः नवाँ अध्याय बतलाता है कि प्रभु-आसक्ति अर्थात्

भक्तिके बिना फलमें अनासक्ति असंभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्यायका निचोड है और हमारी भाषामें उसका अर्थ है : "तू मुझमें समा जा।"

दसवाँ अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-'३१

भगवान् कहते हैं : दोबारा भक्तोंके हितके लिए कहता हूँ, सो सुन। देव और महर्षिगणतक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नहीं है। मैं उनकी और अन्य सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादिरूपमें पहचानते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरको इस रूपमें जानने और अपनेको उसकी प्रजा अथवा उसके अंशकी भाँति पहचाननेपर मनुष्यकी पाप-वृत्ति नहीं रह सकती। पापवृत्तिका मूल ही निजसंबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए हैं, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते हैं, उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंताको छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सब कुछ अर्पण करते हैं, परस्पर मेरे विषयमें ही वार्तालाप करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष तथा आनंदसे रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेम-पूर्वक भजते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।

तब अर्जुनने स्तुति की——आप ही परब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वर-

रूपसे भजते हैं, ऐसा आप ही कहते हैं। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई जानता नहीं है, आप ही अपनेको जानते हैं। अब मुझसे अपनी विभूतियाँ और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ ?

भगवान्‌ने जवाब दिया : मेरी विभूतियाँ अनंत हैं, उनमेंसे थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूँ। सब प्राणियोंके हृदयमें रहा हुआ मैं हूँ। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूँ। आदित्योंमें विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओंमें प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओंमें मरीचि मैं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं, वेदोंमें सामवेद मैं, देवोंमें इंद्र मैं, इंद्रियोंमें मन मैं, प्राणियोंमें चेतन-शक्ति मैं, रुद्रमें शंकर मैं, यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर मैं, दैत्योंमें प्रह्लाद मैं, पशुओंमें सिंह मैं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं और छल करनेवालोंमें द्यूत (जुआ) भी मुझे ही जान। इस जगत्‌में जो कुछ होता है, वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूँ, तभी होता है। यह जानकर मनुष्यको अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरेसे बचना चाहिए, क्योंकि भले-बुरेका फल देनेवाला भी मैं हूँ। तू इतना जान कि यह सारा जगत् मेरी विभूतिके एक अंशमात्रसे स्थित है।

ग्यारहवाँ अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-'३१

अर्जुनने विनय की : "भगवन्, आपने मुझे आत्माके विषयमें जो वचन कहे, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्ता हैं, आप ही संहर्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरी रूपका दर्शन मुझे कराइये।"

भगवान् बोले : "मेरे रूप हजारों हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं। मुझमें

सारा जगत्——चर और अचर——समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकता। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, उनके द्वारा तू देख।"

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा : हे राजन्, भगवान्ने अर्जुनको यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर खयाल कीजिये कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा, उससे भी अधिक यह तेज चकाचौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुनके रोएँ खड़े हो गये, उसका सिर चकराने लगा और काँपते-काँपते वह स्तुति करने लगा :

हे देव ! आपकी इस विशाल देहमें मैं तो सब कुछ और सब किसीको देखता हूँ। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुँहका गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेजका सुमेरु है। देखते आँखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारोंकी भाँति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत्के आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्मके रक्षक हैं। जहाँ देखता हूँ, वहाँ आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य-चंद्र तो आपकी आँखों-सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगत्को तपा रहा है। यह जगत् थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोड़कर काँपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट् रूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूँ, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव ! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुँहमें, जैसे दीपकपर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगोंको गिरते देख रहा हूँ और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं ? आपकी प्रवृत्तिको मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

भगवान् बोले : लोकोंका नाश करनेवाला मैं काल हूँ। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्त-मात्र है।

अर्जुन बोला : हे देव, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो परे है, वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव हैं, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगत्के आश्रय हैं। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुँचें। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इसपर भगवान्ने कहा : तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्याससे, यज्ञसे, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे, दानसे, तपसे भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवोंको भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्तिसे ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्रको छोड़ता है और प्राणीमात्रके विषयमें प्रेममय रहता है, वही मुझे पाता है।

टिप्पणी : दसवेंकी भाँति इस अध्यायको भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूलमें अथवा अनुवादरूपमें जैसा है, वैसा ही बार-बार पढ़ने योग्य है। इससे भक्तिका रस उत्पन्न होनेकी संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जाननेकी कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेमके बिना भक्ति नहीं है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमें सृष्टिमात्रको समा जाना है––प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है––इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, बिनचाहे,

इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमें पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़े का, नीच-ऊँचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर हैं, यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा करनेवालेको वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शांति स्थल लगेगा।

बारहवाँ अध्याय

मंगलप्रभात
४-११-'३०

आज तो बारहवें अध्यायका सार देना चाहता हूँ।* यह भक्तियोग है। विवाहके अवसरपर दंपतीको पाँच यज्ञोंमें इसे भी एक यज्ञरूपसे कंठ करके मनन करनेको हम कहते हैं। भक्तिके बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधनरूप हो जानेकी संभावना है। इसलिए भक्ति-भावसे गीताका यह मनन आरंभ करना चाहिए।

अर्जुनने भगवान्से पूछा: साकार और निराकारको पूजनेवाले भक्तोंमें अधिक श्रेष्ठ कौन है?

भगवान्ने उत्तर दिया: जो मेरे साकार रूपका श्रद्धा-पूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं, पर जो निराकार तत्त्वको भजते हैं और उसे भजनेके लिए समस्त इंद्रियोंका संयम करते हैं, सब जीवोंके प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसीको ऊँच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनोंमें अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकारकी भक्ति शरीरधारीद्वारा संपूर्ण

* गांधीजीने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रमके लिए यह यथास्थान दिया गया है।—संपादक

रूपसे होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्यकी कल्पनासे परे है। इसलिए सब देहधारी जाने-अनजाने साकारके ही भक्त हैं। सो तू तो मेरे साकार विश्वरूपमें ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे॰। पर यह न कर सकता हो तो चित्तके विकारोंको रोकनेका अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदिका पालन करके, प्राणायाम, आसन आदिकी मदद लेकर मनको वशमें कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है, इस धारणासे अपने सब काम कर तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यों-त्यों तू निर्मल—शुद्ध—होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्रके फलका त्याग करके यानी फलकी इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से-में जो काम आ पड़े, उसे करता रह। फलका मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगोंके एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अतः तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतियाँ मैंने बतायी हैं, उनमें किसीको कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो, उससे तू भक्तिका रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदिका मार्ग बता आये हैं, उनकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल हैं। उसकी अपेक्षा उपासनारूप ध्यान और ध्यान-की अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समानभावसे सरल नहीं होती और किसी-किसीको सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरेके साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्गसे हो, तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्गसे भक्ति सधे, उस मार्गसे उसे साध। मैं तुझे भक्तके लक्षण बतलाता हूँ—भक्त किसीका द्वेष न करे, किसीके प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्रसे मैत्री रखे, जीवमात्रके प्रति करुणा-का अभ्यास करे, ऐसा करनेके लिए ममता छोड़े, अपनापन मिटाकर शून्यवत् हो जाय, दुःख-सुखको समान माने। कोई

दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषोंके लिए संसारसे क्षमाका भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयोंसे कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगोंसे दुःख न माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदिसे मुक्त होता है। उसे किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भोंको त्यागे हुए होता है, निश्चयमें दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनोंका वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारेमें निश्चित रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या, अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय, उससे संतोष रखकर एकाकीकी भाँति विचरता हुआ सब स्थितियोंमें स्थिर होकर रहता है। इस भाँति श्रद्धालु होकर चलनेवाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी :

प्रश्न : 'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर : 'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसायके मनसूबे न गाँठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा, अथवा कपड़ेकी एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्यके बारेमें भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डॉक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आ जाय, उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मैं' गया, वहाँ 'मुझे' क्या करनेको रह जाता है ?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे ।"*

भक्तके सब आरंभ भगवान् रचता है। उसे सब कर्म प्रवाहप्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारिंभत्यागका भी यही अर्थ है। सर्वारिंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करनेके विचार, मनसूबे गाँठना। उनका त्याग करनेके मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गाँठनेकी आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्ध-मिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्यागका उलटा है। मेरे खयालमें तुम जो जानना चाहते हो, सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

तेरहवाँ अध्याय

सोमप्रभात
२६-१-'३२

श्री भगवान् बोले : इस शरीरका दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीरमें मौजूद जो मैं (भगवान्) हूँ, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ—एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है उसकी एक होकर रहनेकी शक्ति, शरीरके परमाणुओंमें एक-दूसरेसे चिपटे रहनेका गुण, यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। इस शरीरको और उसके विकारोंको

* मुझे भगवानने सूतके धागेसे बाँध लिया है। ज्यों-ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूँ। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है । इस त्यागके लिए ज्ञान चाहिए । यह ज्ञान अर्थात् मानीपनेका त्याग, दंभका त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयोंपर अंकुश, विषयोंमें वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिलेमें रहे हुए रोगसमूह, दुःख-समूह और नित्य होनेवाले दोषोंका पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादिमेंसे मनको खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मनके प्रतिकूल––उसमें समता रखना, ईश्वरकी अनन्य भक्ति, एकान्तसेवन, लोगोंमें मिलकर भोग भोगनेकी ओर अरुचि, आत्माके विषयमें ज्ञानकी प्यास और अंतमें आत्मदर्शन । इससे विपरीतका नाम अज्ञान है। इस ज्ञानके साधनसे जो जाननेकी चीज है––ज्ञेय है और जिसे जाननेसे मोक्ष मिलता है, उसके विषयमें थोड़ा सुन । यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है । अनादि है––अर्थात् उसे जन्म नहीं है––जब कुछ नहीं था, तब भी वह परब्रह्म तो था । वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है । उससे भी परे है । अन्य दृष्टिसे उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है । तथापि उसकी नित्यता-को भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत्से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है । उसे हजारों हाथ-पाँवोंवाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं, यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रियरहित है, उसे इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है । इंद्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं हैं । परब्रह्म तो नित्य है ही और यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणोंका भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते, उनके हिसाबसे तो वह बाहर ही है । प्राणियोंके अन्दर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है । वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है । सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े । दूर भी है और नजदीक भी है । नाम-रूपका नाश है, तथापि वह तो है ही,

इस प्रकार अविभक्त है; पर असंख्य प्राणियोंमें है, यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्तरूपसे भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। तेजोंका तेज है, अंधकारसे परे है, ज्ञानका किनारा उसमें आ गया है। इन सबमें मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्रकी प्राप्ति केवल उसकी प्राप्तिके लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादिसे चलते आये हैं। मायामेंसे विकार पैदा होते हैं और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्तातक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमें अहंताको नहीं मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीरमें रहते हुए भी ज्ञानद्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवाँ अध्याय

मौनवार
२५-१-'३२

श्री भगवान् बोले: जिस उत्तम ज्ञानको पाकर ऋषि-मुनियोंने परम सिद्धि पायी है, वह मैं तुझसे फिर कहता हूँ। उस ज्ञानके पाने और उसके अनुसार धर्मका आचरण करनेसे लोग जन्म-मरणके चक्करमें से बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मैं जीवमात्रका माता-पिता हूँ। प्रकृतिजन्य तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्—देहीको बाँधनेवाले हैं। इन गुणोंको उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण

निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् रागसे, तृष्णासे पैदा होता है और वह मनुष्यको गड़बड़में डालता है। तमस्का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतः संक्षेपमें कहा जाय तो सत्त्वमेंसे सुख, रजस्मेंसे तृष्णादि और तमस्मेंसे आलस्य पैदा होता ह। रजस् और तमस्को दबा-कर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस्को दबाकर तमस् जय पाता है। देहके सब कामोंमें जब ज्ञानका अनुभव देखनेमें आये, तब यह जानना कि अब सत्त्वगुण प्रधान रूपसे काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे, तब रजस्की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोहका अनुभव हो, तब समझो कि तमस्का राज्य है। जिसके जीवनमें सत्त्वगुण प्रधान होता है, वह मृत्युके अंतमें ज्ञानमय निर्दोष लोकमें जन्म पाता है, रजस्-प्रधान जो होता है, वह धाँधली (गड़बड़) लोकमें जाता है और तमस्-प्रधान मूढ़ योनिमें जन्मता है। सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजसका दुःखमय और तामसका अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोककी उच्चगति, राजसकी मध्यम और तामसकी अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणोंके सिवा दूसरेको कर्ता नहीं समझता और गुणोंसे परे जो मैं हूँ उसे जानता है, तब वह मेरे भावको पाता है। देहमें विद्यमान इन तीन गुणोंको जो देही पार कर जाता है, वह जन्म, जरा और मृत्युके दुःखोंसे छूटकर अमृतमय मोक्षको प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है : गुणातीतकी ऐसी सुन्दर गति होती है तो बतलाइये कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनों गुणोंको किस प्रकार पार किया जाय ?

भगवान् उत्तर देते हैं : जो मनुष्य अपनेपर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न मान

या इच्छा न करे; जो गुणोंके बारेमें तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है; जो सुख-दुःखको सम मानता है; जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है; जिसे प्रिय-अप्रियकी बात नहीं है; जिसपर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है; जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणोंसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिरपर हाथ रखकर बैठ जानेकी। मैंने तो सिद्धकी दशा बतलायी है। वहाँतक पहुँचनेका मार्ग यह है—व्यभिचाररहित भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्यायसे लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म बिना, प्रवृत्ति बिना कोई साँसतक नहीं ले सकता, अतः कर्म तो देहीमात्रको लगे हुए हैं। जो गुणोंको पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फलकी इच्छातक भी न करे। ऐसा करनेमें उसके कर्म उसे विघ्नरूप नहीं होंगे; क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ, मोक्ष मैं हूँ, सनातन धर्म मैं हूँ, अनंत सुख मैं हूँ, जो कहो, वह मैं हूँ। मनुष्य शून्यवत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे, इसे गुणातीत कहेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

रातको
३१-१-'३२

श्री भगवान् बोले : इस संसारको दो तरहसे देखा जा सकता है—एक इस तरह : जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसके वेदरूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपलके रूपमें जो संसारको देखता है, वह वेदको जाननेवाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है : संसाररूपी वृक्षकी शाखाएँ ऊपर-नीचे

फैली हुई हैं। उसके तीन गुणोंसे बढ़े हुए विषयरूपी अंकुर हैं और वे विषय जीवको मनुष्य-लोकमें कर्मके बंधनमें डालते हैं। इस वृक्षका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरंभ नहीं है, न अंत है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकारका संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी शस्त्रसे काटना चाहिए कि जिससे आत्माको वह लोक प्राप्त हो सके, जहाँसे उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करनेके लिए वह निरंतर उस आदिपुरुषको भजे कि जिसकी मायासे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोहको छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोषको जीत लिया, जो आत्मामें लीन हैं, जो विषयोंसे अलग हो गये हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पदको पाते हैं।

इस जगह सूर्यको या चंद्रको या अग्निको तेज पहुँचानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ जानेके बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परमधाम है।

जीवलोकमें मेरा सनातन अंश जीवरूपमें, प्रकृतिमें विद्यमान मनसहित छह इंद्रियोंको, आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थलसे गंधोंको साथ लिये चलता है, यह जीव भी इंद्रियोंको साथ लिये हुए विचरता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनोंका सहारा लेकर जीव विषयोंका सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणोंवाले इस जीवको मोहमें पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं, ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करनेवाले योगी अपनेमें विद्यमान इस जीवको पहचानते हैं, पर जिसने समभावरूपी योगको नहीं साधा है, वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्यका जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमामें है, जो अग्निमें है, उन सारे तेजोंको मेरा तेज जान। अपनी

शक्तिद्वारा शरीरमें प्रवेश करके मैं जीवोंको धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधिमात्रका पोषण करता हूँ। प्राणियोंकी देहमें रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायुको समान करके चार प्रकारका अन्न पचाता हूँ। सबके हृदयके भीतर विद्यमान हूँ। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य जो है, वह मैं हूँ। वेदान्त भी मैं हूँ, वेदान्तको जाननेवाला भी मैं हूँ।

इस लोकमें कहा जाता है कि दो पुरुष हैं——क्षर और अक्षर अथवा नाशवान् और नाशरहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं, उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूँ, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उसका पालन करता है, वह भी मैं हूँ; इससे मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, और लोकमें, वेदमें, पुरुषोत्तमरूपसे प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तमरूपसे पहचानता है, वह सब जानता है और मुझे सब भावोंद्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् बनता है और अपने ध्येयको पहुँचता है।

सोलहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर
७-२-’३२

श्री भगवान् कहते हैं : अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्तिका भेद बतलाता हूँ। धर्मवृत्तिके बारेमें तो मैं पहले बहुत कह गया हूँ, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूँ। जिसमें धर्मवृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, यज्ञ, शास्त्रोंका अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसीकी चुगली न खाना

अर्थात् अपैशुन्यता, भूतमात्रके प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंतर और बाहरकी स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवालेमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखनेमें आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधनमें डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जनमा है।

अधर्मवृत्तिका थोड़ा विस्तार कह देता हूँ कि जिससे उसका त्याग सहजमें लोग कर सकें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्धका या सत्यासत्यका भान नहीं होता तो फिर उसके बर्तावका तो ठिकाना ही कहाँसे होगा? उसके मन जगत् झूठा, निराधार है, जगत्‌का कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुषका संबंध ही उसका जगत् है, अतः इसमें विषय-भोगके सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालोंके कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारोंको पकड़े रहते हैं और जगत्‌के नाशके लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनकी कामनाओंका अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मदमें भूले रहते हैं। उनकी चिंताका भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। सैकड़ों आशाओंके महल चुनते रहते हैं और अपनी कामनाके पोषणके लिए द्रव्य एकत्र करनेमें न्याय-अन्यायका भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा; इस शत्रुको आज मारा, फिर दूसरेको मारूँगा; मैं बलवान् हूँ; मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है; मेरे समान दूसरा कौन है; कीर्ति-प्राप्तिके लिए यज्ञ करूँगा; दान दूँगा और चैनकी वंशी बजाऊँगा; यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अन्तमें मोह-जालमें फँसकर नरकवास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमंडमें भूले रहकर परनिंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वरका द्वेष करते हैं और इससे वह बार-बार आसुरी योनिमें जन्मते हैं ।

नरकके, आत्माको नाश करनेवाले, ये तीन दरवाजे हैं--काम, क्रोध और लोभ । सबको इन तीनोंका त्याग करना चाहिए । उनका त्याग करनेवाले कल्याणमार्गके पथिक होते हैं और वे परमगतिको पाते हैं ।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रोंका त्याग करके स्वेच्छासे भोगमें पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याण मार्गमें रहकर शांति पाते हैं । इससे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें अनुभवियों-से अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार-विचारका निश्चय करना चाहिए ।

सत्रहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर
१४-२-'३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है ?

भगवान् उत्तर देते हैं--श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है--सात्त्विकी, राजसी और तामसी । श्रद्धाके अनुसार मनुष्य होता है ।

सात्त्विक मनुष्य ईश्वरको, राजस यक्ष-राक्षसोंको और तामस भूत-प्रेतोंको भजता है ।

पर किसीकी श्रद्धा कैसी है, यह एकाएक नहीं जाना जा सकता । उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं, जो बतलाता हूँ ।

जिस आहारसे आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और

रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है। उससे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो, बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकारसे अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञके करनेमें फलकी इच्छा नहीं है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है, वह सात्त्विक माना जाता है; जिसमें फलकी आशा है और दंभ भी है, उसे राजस यज्ञ जानना; जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है, वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतोंकी पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रन्थका अभ्यास वाचिक तप है। मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप, जो समभावसे फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप मानकी आशासे, दंभपूर्वक किया जाता है, उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रहसे या दूसरेके नाशके लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्माको क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धिसे दिया गया, बिना फलेच्छाके देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदलेकी आशा है और जिसे देते हुए संकोच हो, वह दान राजस है और देश-कालादिका विचार किये बिना, तिरस्कृत भावसे या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदोंने ब्रह्मका वर्णन ॐतत्सत्‌रूपसे किया है, अतः श्रद्धालुको चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य

है, यही कल्याण करनेवाला है । ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पणबुद्धिसे जो यज्ञादि करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है और वह शिष्टाचारको न जाननेके कारणसे अथवा जानते हुए भी, ईश्वरार्पणबुद्धिसे उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोषरहित है ।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पणबुद्धिके बिना होती है, वह बिना श्रद्धाकी मानी जाती है । वह असत् है ।

अठारहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर
२१-२-३२

पिछले सोलह अध्यायोंके मननके बाद भी अर्जुनके मनमें शंका बनी रह जाती है; क्योंकि गीताका संन्यास उसे प्रचलित संन्याससे भिन्न लगता है । उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या !

इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् इस अंतिम अध्यायमें गीता-शिक्षणका सार दे देते हैं ।

कितने ही कर्मोंमें कामना भरी होती है; अनेक प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है । यह काम्य कर्म है । अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे साँस लेना, देहकी रक्षाभरको खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना इत्यादि । और तीसरा कर्म पारमार्थिक है । इनमेंसे काम्य कर्मका त्याग गीताका संन्यास है और कर्ममात्रके फलका त्याग गीता-मान्य त्याग है ।

कह सकते हैं कि कर्ममात्रमें कुछ दोष तो अवश्य है ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्मका त्याग विहित नहीं है । यज्ञमें दान और तप आ जाते हैं; पर परमार्थमें भी आसक्ति,

मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराईके घुस आनेकी संभावना है :

मोहवश नियत कर्मका त्याग तामस त्याग है। देहके कष्टके खयालसे किया हुआ त्याग राजस है; पर सेवा-कार्य करनेकी भावनासे, बिना फलकी इच्छाका त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अतः यहाँ कर्ममात्रका त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्मके फलका त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्मका त्याग तो है ही। ऐसे त्यागीको शंकाएँ नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधाका विचार नहीं करता।

जो कर्म-फलका त्याग नहीं करते हैं, उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधनमें पड़े रहते हैं। फल-त्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्मके विषयमें मोह क्या? अपने कर्तापनका अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच कारण होते हैं——स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएँ और यह सब होनेपर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्यको अभिमानका त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवालेके बारेमें कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नहीं करता है; क्योंकि उसे वह कर्म बंधन-कर्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्यके विषयमें कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मारता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है, निरभिमानीको हिंसा करनेका प्रयोजन ही क्या है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन वस्तुएँ होती हैं——ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान और उसके तीन अंग होते हैं——इंद्रियाँ, क्रिया और कर्ता। जो करना है, वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है, वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है, वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होनेके बाद कर्म होता है। उसमें इंद्रियाँ कारण होती हैं, जो

करनेको है, वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है, वह कर्ता है। इस प्रकार विचारमेंसे आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणीमात्रमें एक ही भाव देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराईमें उतरनेपर एक ही भासित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहाँ कुछ पता ही नहीं लगता और सब बिना कारणके गड़बड़ लगता है, वह तामस ज्ञान है।

ज्ञानके विभागकी भाँति कर्मके भी विभाग हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहाँ भोगकी इच्छा है, जहाँ 'मैं करता हूँ' यह अभिमान है और इससे जहाँ हो-हल्ला है, वह राजस कर्म है। जहाँ परिणामकी, हानि-की या हिंसाकी, शक्तिकी परवाह नहीं है और जो मोहके वश होकर होता है, वह तामस कर्म है।

कर्मकी भाँति कर्ता भी तीन तरहके समझने चाहिए। सात्त्विक कर्ता वह है, जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फलसे हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्तामें राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर ही होता है, तो फिर कर्म-फलकी इच्छाका तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेपमें कहा जाय तो संस्काररहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुखके भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंध-मोक्ष आदिका सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्मको अधर्म मानती है। सब उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहनेकी शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाणमें सबमें है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाकी समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहाँ धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्यको निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःखका अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरूमें जहर-सा लगनेपर भी, परिणाममें, अमृतके समान ही है। विषयभोगमें, जो शुरूमें मधुर लगता है, पर बादको जहरके समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है, वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओंके तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणोंके अल्पाधिक्यके कारण हुए हैं। ब्राह्मणके कर्ममें शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियोंमें शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीछे न हटना, दान, राज्य चलानेकी शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यका कर्म है और शूद्रका सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एकके गुण दूसरेमें नहीं होते, अथवा इन गुणोंको हासिल करनेका उसे हक नहीं है; पर उपर्युक्त भाँतिके गुण या कर्मसे उस-उस वर्णकी पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्णके गुण-कर्म पहचाने जायँ तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊँच-नीचकी भावनाकी यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है; बल्कि सब अपने स्वभावके अनुसार निष्काम भावसे अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मोंको करते हुए वे मोक्षके अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो,

तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्ममें पाप न होनेकी संभावना है, क्योंकि उसीमें निष्कामताकी पाबंदी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामें ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमें धुँआ है, वैसे ही कर्ममात्रमें दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्मफलकी इच्छाके बिना होते हैं, इसलिए कर्मका दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मनको वशमें कर रखा है, जिसने पाँच विषयोंको छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेषको जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, कायाको अंकुशमें रखता है, ईश्वरका ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभावको पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्वको यथार्थ जानता है और ईश्वरमें लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान्‌का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं––"सब मुझे अर्पण कर मुझमें परायण हो और विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओंसे छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाशको प्राप्त होगा। सौ बातकी एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचोंको त्याग-कर मेरी शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुननेकी इच्छा नहीं है और जो मेरा गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी भक्ति करनेके कारण अवश्य मुझे पायेगा।"

अंतमें संजय धृतराष्ट्रसे कहता है––जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहाँ कृष्णको योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे

उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहाँ ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञानको अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहाँ परम नीतिकी अवरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

•

गीता-माता

गीता शास्त्रोंका दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदोंका निचोड़ उसके सात सौ श्लोकोंमें आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लूँ। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गयी है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गयी, पर संकटके समय गीता-माताके पास जाना मैं सीख गया हूँ। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

—मो० क० गांधी

मंगल-प्रभात

अनुक्रम

१. सत्य

प्रातःकालकी प्रार्थनाके बाद
२२-७-'३०

हमारी संस्थाका मूल ही 'सत्यका आग्रह' है, इसलिए पहले सत्यको ही लेता हूँ।

'सत्य' शब्द सत्‌स बना है। सत्‌का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्यके बिना दूसरी किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। परमेश्वरका सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहनेकी अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राज-कर्ताके बिना, सरदारके बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारनेपर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्यके साथ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान--अवश्यंभावी है। जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ शुद्ध ज्ञानकी संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नामके साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्दकी योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है, वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्यके शाश्वत होनेके कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वरको हम सच्चिदानन्दके नामसे भी पहचानते हैं।

इस सत्यकी आराधनाके लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक

श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्यका अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थमें सत्य शब्दका प्रयोग किया है। विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्यका होना ही सत्य है। इस सत्यको संपूर्णतः समझनेवालेके लिए जगत्में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आये हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाये, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँसे सकता है? यदि हम इस कसौटीका उपयोग करना सीख जायँ तो हमें यह जाननेमें देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं?

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान्ने दिया है——अभ्यास और वैराग्यसे। सत्यकी ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओंमें आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायेंगे कि एकके लिए जो सत्य है, दूसरेके लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबरानेकी बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़के असंख्य भिन्न दिखाई देनेवाले पत्तोंके समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमीको भिन्न दिखाई नहीं देता? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वरका है, अतः जिसे जो सत्य लगे, तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्यकी खोजके साथ तपश्चर्या होती है, अर्थात् आत्मकष्ट-सहनकी बात होती है।

उसके पीछे मर-मिटना होता है, अतः उसमें स्वार्थकी तो गंध-तक भी नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ खोजमें लगा हुआ आज-तक कोई अंतपर्यन्त गलत रास्तेपर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्यकी आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है, अथवा वह 'हरिका मार्ग' है, जिसमें कायरताकी गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नामकी कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीनेका मंत्र' है।

पर अब हम लगभग अहिंसाके किनारे आ पहुँचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूँगा।

इस प्रसंगके साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदिके दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताहतक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते——सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो।

२. अहिंसा

मंगल-प्रभात

२९-७-'३०

सत्यका, अहिंसाका मार्ग जितना सीधा है, उतना ही तंग भी, खाँड़ेकी धारपर चलनेके समान है। नट जिस डोरपर सावधानीसे नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसाकी डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल-की साधनासे ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्यके सम्पूर्ण दर्शन तो इस देहसे असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्मका साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अन्तमें श्रद्धाके उपयोगकी आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासुके पल्ले पड़ी। जिज्ञासुके सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्गमें आनेवाले संकटोंको सहे या उनके निमित्त जो नाश करना पड़े, वह करता जाय और आगे बढ़े? उसने देखा कि नाश करते चलनेपर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दरपर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाशमें उसने देखा कि जिस सत्यकी उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है, वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचनेको हमने उसे दंड दिया। उस वक्तके लिए तो वह भाग गया जरूर, लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगायी; पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अँधेरी गलीमें ठोकर खायी। चोरका उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरीको कर्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो यह है कि चोरका उपद्रव सह लें, इससे चोरको समझ आयेगी। उपद्रव सह लेनेसे हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देनेकी जरूरत नहीं; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनानेका उपाय खोजनेतकका कष्ट सहनेको तैयार होना चाहिए। यह अहिंसाका मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठानेकी ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षाकी बात आती है। यदि यह हो जाय तो

अन्तमें चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत्को मित्र बनाना सीखते हैं, हम ईश्वरकी, सत्यकी महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है; साहस और हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-अशाश्वतका भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने-आप घट जाता है और देहके अन्दर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है, जो आज हमारी दृष्टिके सामने है। किसीको न मारना इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जगत्के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं, वह जगत्के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं, वहाँ पड़े सैकड़ों सूक्ष्म जीव पैरों-तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्म-हत्या कर लें? तो भी निस्तार नहीं है। विचारमें देहके साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंतमें देह हमें छोड़ देगी। यह मोह-रहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरतासे नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गयी कठिन। फिर भी जिसने अहिंसाका थोड़ा भी विचार किया होगा, उसे समझनेमें कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्यकी खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं, जैसे सिक्केके दोनों रुख, या चिकनी चकतीके दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा? फिर भी अहिंसाको

साधन और सत्यको साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथकी बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गयी। सत्य परमेश्वर हुआ। साधनकी चिन्ता करते रहनेपर साध्यके दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना जग जीत लेना है। हमारे मार्गमें चाहे जो संकट आयें, बाह्य दृष्टिसे देखने-पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए--सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कारका एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वरके नामपर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालनका बल दे।

३. ब्रह्मचर्य

मंगल-प्रभात

५-८-'३०

हमारे व्रतोंमें तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है, वास्तवमें देखनेपर तो दूसर सभी व्रत एक सत्यके व्रतमेंसे ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्यने सत्यको वरा है, उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु-की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकारकी आराधनाकी तो बात ही कहाँ उठ सकती है? जिसकी कुल प्रवृत्तियाँ सत्यके दर्शनके लिए हैं, वह संतानोत्पत्तिके काममें या घर-गिरस्ती चलानेके झगड़ेमें पड़ ही कैसे सकता है? भोग-विलास द्वारा किसीको सत्य प्राप्त होनेकी आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसाके पालनेको लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्यके बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जहाँ पुरुषने एक स्त्रीको या स्त्रीने एक पुरुषको अपना प्रेम

सौंप दिया, वहाँ उसके पास दूसरेके लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बादको।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिए और पत्नी-व्रती पुरुष स्त्रीके लिए सर्वस्व होमनेको तैयार होगा। अतः यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेममें विक्षेप होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसारमें देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रतका पालन करनेवालेसे विवाह नहीं बन सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या ?

फिर जो विवाह कर चुके हैं, उनकी क्या गति होगी ? उन्हें सत्यकी प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है--विवाहितका अविवाहितकी भाँति हो जाना। इस दिशामें इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थितिका मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जायँ तो सारे झगड़ोंसे वे मुक्त हो जाते हैं। संसारभरकी सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, लड़कियाँ हैं--यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊँचे ले जानेवाला, बंधनमेंसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूँजीमें वृद्धि करते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं, विकाररूपी मैल निकालनेसे प्रेम भी बढ़ता है। विकारोंके जानेसे एक-दूसरेकी सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते हैं। जहाँ स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलहके लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचारके समझ लेने और उसके हृदयमें बैठ

जानेके बाद ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलासके लिए वीर्य खोना और शरीरको निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्यका उपयोग दोनोंकी शारीरिक और मानसिक शक्तिको बढ़ानेके लिए है। उसका विषय-भोगमें उपयोग करना, यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोगके कारण वह बहुतेरे रोगोंकी जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कर्म तीनोंसे होना चाहिए। व्रतमात्रके विषयमें यही बात समझनी चाहिए। हम गीतामें पढ़ते हैं कि जो शरीरको तो वशमें रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मनको विकारी रहने देकर शरीरको दबानेकी कोशिश करनेमें हानि ही है। जहाँ मन होता है, वहाँ शरीर अन्तमें घसिटाये बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक बात है, मनका अपने-आप, अनिच्छासे, बलात्कारसे विकारको प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकारमें यदि हम सहायक न बनें तो अंतमें जीत ही है। हमारा प्रतिपलका यह अनुभव है कि शरीर काबूमें रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीरको तो तुरंत ही वशमें करके मनको वशमें करनेका हम सतत प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्तव्य-पालन कर लिया। हमारे, मनके अधीन होते ही, शरीर और मनमें विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरम्भ हो जाता है। पर जहाँतक मनोविकारको दबाते ही रहते हैं, वहाँ तक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको संकुचित अर्थमें लिया गया है। जननेंद्रिय-

विकारके निरोधभरको ही ब्रह्मचर्यका पालन मान लिया गया है। मेरे खयालमें यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इंद्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी बातें सुनना, आँखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोंको उभारनेवाली चीजको छूना और फिर भी जननेंद्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान है। इसलिए जननेंद्रियको रोकनेका निश्चय करनेवालेके लिए इंद्रियमात्रका, उनके विकारोंसे रोकनेका, निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्यकी संकुचित व्याख्यासे नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियोंको एक साथ वशमें करनेका अभ्यास डालें तो जननेंद्रियको वशमें रखनेका प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतोंमें उसके संयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी--सत्यकी--शोधमें चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थमेंसे सर्वेन्द्रिय-संयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-संयमरूपी अधूरे अर्थको तो हमें भूल जाना चाहिए।

४. अस्वाद

मंगल-प्रभात
१२-८-'३०

ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखनेवाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर

ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतोंमें पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रतको पृथक् स्थान न मिला; पर यह केवल मेरा अनुमानमात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रतको पृथक् स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्र रूपसे विचार कर लेना उचित है।

अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवाके खानेमें हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं, वही बात अन्नके विषयमें समझनी चाहिए। अन्नसे मतलब समस्त खाद्य-पदार्थोंसे है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाणसे कम खानेपर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाणमें खानेसे हानि होती है, वही बात अन्नके बारेमें है। इसलिए किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिए चखना व्रतका भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमें लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया। इससे यह समझमें आ सकता है कि किसी चीजका स्वाद बढ़ाने या बदलनेके लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटानेको नमक मिलाना यह व्रत-भंग है। पर अमुक परिमाणमें नमककी जरूरत है, यह हम जानते हों और इस वजहसे उसमें नमक मिलायें तो इसमें व्रत-भंग नहीं है। शरीर-पोषणके लिए आवश्यकता न होनेपर भी मनको ठगनेके लिए आवश्यकताका आरोप करके किसी चीजका बढ़ा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हम पायेंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं, जो हमारी शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक न होनेके कारण त्याज्य-श्रेणीमें हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओंका अनायास त्याग हो जानेसे उस मनुष्यके विकारमात्र शांत हो जायँगे। 'एक हाँडी तेरह व्यंजन माँगती है', 'पेट

तरह-तरहके नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है', इन सब वचनोंमें बड़ा अर्थ समाया हुआ है। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे आहारका चुनाव प्रायः अशक्य हो गया है। बचपनसे ही माँ-बाप झूठा लाड़-चाव करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको बिगाड़ देते हैं और जीभको कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमें आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पदपर अनुभव करते हैं, फजूल-खर्चियोंमें पड़ते हैं, वैद्य-डॉक्टरोंकी खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपंगकी भाँति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि संसार-में मैंने एक भी नीरोगी पुरुष नहीं देखा। जरा भी स्वादके फेरमें पड़नेसे शरीरके लिए उपवासकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारासे किसीको घबरानेकी जरूरत नहीं है। अस्वाद-व्रतकी भयंकरता देखकर उसे त्याग देनेकी भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेनेका अर्थ यह नहीं होता कि हम उसी समय-से उसका पूर्ण रूपसे पालन करने लग गये। व्रत लेनेका अर्थ होता है संपूर्ण रूपसे उसके पालनका सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्मसे, जीवन-पर्यन्त करना। किसी व्रतके कठिन होनेके कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मनको धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधाके लिए आदर्शको गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्शको स्वतंत्र रूपसे जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करनेका जी-जान-से प्रयत्न करना परम अर्थ है--पुरुषार्थ है। पुरुष शब्दका अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुरमें अर्थात् शरीरमें जो रहे, वह पुरुष। यह अर्थ लेनेसे पुरुषार्थ शब्दका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनोंके लिए हो सकता है। जो तीनों कालमें सम्पूर्ण रूपसे महाव्रतोंका पालन करनेमें समर्थ है, उसे इस जगत्-में कुछ भी करनेको नहीं है। वह भगवान् है, वह मुक्त है।

हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्यका आग्रह रखनेवाले, उसकी खोज करनेवाले प्राणी हैं। इसलिए गीताकी भाषामें, धीरे-धीरे, किन्तु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसादके योग्य हो जायँगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायँगे।

अस्वाद-व्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचते रहनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ साव-धानीकी, जागृतिकी पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते हैं और कब शरीर-पोषणके लिए खाते हैं। वह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़तापूर्वक स्वादको घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करनेपर अस्वाद-वृत्तिसे बनानेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहाँ हमें रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायेंगे, क्या खायेंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो, उसे ईश्वरका अनुग्रह मानकर, मनमें भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक शरीरके लिए जितना आवश्यक हो, उतना खाकर उठ जायँ। ऐसा करने-वाला अनायास अस्वाद-व्रतका पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हल्का कर देते हैं, हमारे व्रतके रक्षक बनते हैं। स्वाद करनेकी दृष्टिसे उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाजके शरीरका पोषण करनेके लिए ही रसोई बनायें। वास्तवमें तो आदर्श स्थितिमें अग्निकी आवश्यकता कम-से-कम या बिलकुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाअग्नि जिन चीजोंको पकाती है, उन्हींमेंसे हमारे खाद्यका चुनाव होना चाहिए। इन विचारोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्योंको केवल फलाहारी होना चाहिए, परन्तु यहाँ इतनी गहराईमें उतरनेकी जरूरत नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन-सी कठि-

नाइयाँ हैं, या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य-पालनके साथ कतना अधिक निकट संबंध है । इतना समझ, सबको यथा-शक्ति इस व्रतके पालनका शुभ प्रयत्न करना चाहिए ।

५. अस्तेय

मंगल-प्रभात
१९-८-'३०

अब हम अस्तेय व्रतपर आते हैं । गम्भीरतासे विचारनेपर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्यके गर्भमें स्थित हैं । वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं :

सत्य
|
अहिंसा

अथवा

सत्य—अहिंसा

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, इत्यादि । चाहें तो हम इस क्रमको और बढ़ा सकते हैं ।

सत्यमेंसे अहिंसाकी उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसाका जोड़ा मान सकते हैं । दोनों वस्तुएँ एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहलेकी ओर झुकता है । अंतिम स्थिति जोड़ेसे––द्वंद्वसे–– अतीत है । परम सत्य अकेला स्थित रहता है । सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है । अहिंसाको हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है । सत्यका तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्ण रूपसे उसका जानना देहीके लिए कठिन है, वैसे ही, जैसे कि देहीके लिए अहिंसाका पूर्ण पालन ।

अस्तेयका अर्थ है, चोरी न करना । चोरका सत्यको जानना या प्रेम-धर्मका पालन संभव नहीं है, तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरीका दोष जाने-अनजाने करते हैं । दूसरेकी

चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीजकी भी चोरी करता है—जैसे, एक बाप अपने बच्चोंको जनाये बिना, उनसे छिपानेकी नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रमका भंडार हम सभी-का कहलायेगा; पर उसमेंसे चुपकेसे गुड़की एक डली भी खाने-वाला चोर है। दूसरे लड़केकी कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेनेमें भी चोरी है। पड़ुआ (राहमें पड़ी चीज) के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेशका राज्य या वहाँकी सरकार है। आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम-के मंत्रीको सौंपनी चाहिए। आश्रमकी न होनेपर मंत्री उसे पुलिसके हवाले करेगा।

यहाँतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमें वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसारमें ज्यादा-से-ज्यादा खानेकी चीजोंके संबंधमें होती है। मुझे अमुक फलकी जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूँ या जरूरतसे ज्यादा खाता हूँ तो यह चोरी है। वस्तुतः अपनी आवश्यकताकी मात्राको मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्रायः हम सब, अपनी जरूरतोंको आवश्यकतासे अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने-पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतोंको घटा सकते हैं। अस्तेय-व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आव-श्यकताएँ कम करता जायगा। इस संसारमें अधिकतर दरिद्रता अस्तेयके भंगसे पैदा हुई है।

ऊपर बतायी गयी सब चोरियोंको बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इसमें सूक्ष्म और आत्माको नीचे

गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसी-की चीज पानेकी इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चेका, किसी अच्छी चीजको देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीरसे तो नहीं खाता, पर दूसरोंको खाते देखकर यदि वह मनसे स्वाद लेता है, तो चोरी करता है और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मनसे उपवासके बदले भोजनके मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवासका भंग करता है। अस्तेय-व्रतका पालनकर्ता भविष्यमें मिलनेवाली चीजोंके चक्करमें नहीं पड़ता। अनेक चोरियोंके मूलमें यह लालची इच्छा पायी जायगी। आज जो वस्तु केवल विचारमें होती है, कल उसे पानेको हम भले-बुरे तरीके काममें लाते हैं।

वस्तुकी भाँति ही विचारोंकी चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी करना है। संसारके इतिहासमें ऐसी चोरी अनेक विद्वानोंने भी की और आज भी कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्रमें नये ढंगका एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रममें बनाऊँ और फिर कहूँ कि यह तो मेरा आविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूपसे दूसरेके आविष्कार-की चोरी करता हूँ और इसमें असत्यका आसरा तो लेता ही हूँ। अतः अस्तेय-व्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगीसे रहनेकी जरूरत पड़ती है।

६. अपरिग्रह

मंगल-प्रभात
२६-८-'३०

अपरिग्रहको अस्तेयसे सम्बद्ध समझना चाहिए। वास्तवमें चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरीका-सा

माल हो जाता है । परिग्रहका अर्थ है, संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता । परमात्मा परिग्रह नहीं करता । वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है । अतः यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा । औलियाओंका, भक्तोंका यह अनुभव है । रोजके कामभरका रोज़ पैदा करनेके ईश्वरीय नियमोंको हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं । अतः जगत्में विषमता और उससे होनेवाले दुःख भोगते हैं । धनीके घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभावमें करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़ेसे ठिठुरते हैं । यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभरको ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे । आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं । करोड़पति अरबपति होनेको छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है । उसे पेट भरनेभरको ही पाकर सन्तोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगालको पेटभर पानेका अधिकार है और समाजका धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे । अतः उसके और अपने सन्तोषके लिए शुरुआत धनीको करनी चाहिए । वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्रके कामभरको सहजमें मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोषका सबक सीखें । आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा, जो मनसे और कर्मसे दिगम्बर है । यहाँतक कि वह पक्षीकी भाँति बिना घरके, बिना वस्त्रोंके और बिना अन्नके विचरण करता है । अन्न तो उसे रोजकी जरूरतभरको भगवान् देता रहेगा । इस अवधूत स्थितिको तो बिरले ही पहुँच सकते हैं । हम मामूली दर्जेके सत्याग्रहके जिज्ञासुओंको तो चाहिए कि आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जहाँतक

बने, उसे घटाते रहें। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टिसे विचारने और बरतनेपर हमें मालूम होगा कि आश्रममें हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते हैं कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे पड़ोसीको चोरी करनेके लालचमें फँसाते हैं। अभ्याससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है, त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरहसे आरोग्यवान् होता जाता है। केवल सत्यकी, आत्माकी दृष्टिसे विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोगकी इच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छाके अत्यंत क्षीण हो जानपर शरीरकी जरूरत नहीं रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़ेमें कैसे बन्द रह सकता है? यह पिंजड़ा बनाये रखनेका अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरेको कैसे मार सकता है? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्यागको पहुँच जाते हैं और शरीरकी स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहाँतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊँघना सब सेवाके लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अन्तमें सत्यकी झाँकी करेगा। इस दृष्टिसे हम सबको अपने परिग्रहपर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओंकी भाँति विचारका भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमागमें निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हों अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हों, वे सब परिग्रहके अन्दर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवान्की तेरहवें अध्यायमें दी

हुई ज्ञानकी यह परिभाषा हमें ख्यालमें लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही——तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञानके नामसे संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभके बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंतमें खाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्त्विक, सत्यकी ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहाँ तो सारासारका विवेक सीखनेकी बात है। सेवा-परायणको यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

७. अभय

मंगल-प्रभात
२-९-'३०

सोलहवें अध्यायमें दैवी संपद्का वर्णन करते हुए भगवान्ने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवादमें मैं नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोककी संगतिके सुविधार्थ या अभयको प्रथम स्थान देनेके औचित्यकी दृष्टिसे है। न यह निर्णय करनेकी मुझमें योग्यता है। मेरी समझमें अभयको अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभयके बिना दूसरी संपत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। अभयके बिना सत्यकी खोज कैसे हो सकती है? अभयके बिना अहिंसाका पालन कैसे हो सकता है? हरिके मार्गपर चलना खाँड़ेकी धारपर चलना है, वहाँ कायरका काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीरके मानी हैं भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरताका चिह्न नहीं; बल्कि भीरुताकी निशानी है।

भयके मानी हैं बाहरी भयमात्रसे मुक्ति—मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग-भय, शस्त्र-प्रहारका भय। प्रतिष्ठाका भय, किसीके बुरा माननेका भय। भयकी यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ायी जा सकती है। साधारणतः कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्युभयको जीत लिया तो सब भयोंको जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौतका भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकारके दुःखोंसे भागते हैं। कुछ मरनेको तैयार होनेपर भी सगे-संबंधियोंका वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवाह नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा, जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करनेको तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसारकी निन्दाके भयसे, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करनेमें हिचकिचायेगा। सत्यकी खोज करनेवालेको तो समस्त भयोंको तिलांजलि दिये बिना निस्तार नहीं। उसकी हरिश्चन्द्रकी भाँति मिट जानेकी तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चन्द्रकी कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्रका यह अनुभव है। अतः उस कथाकी कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथासे अनंतगुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा मननीय है।

अभय-व्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे मुक्ति तो वही पा सकता है, जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थितिकी पराकाष्ठा है। निश्चय करनेसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भमें ही कहा है कि हमें बाहरी भयोंसे मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं, उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादिका भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेनेसे बाहरी भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देहके कारण हैं। देहविषयक राग दूर

हो जानेसे अभय सहजमें प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी उपज हैं। धनसे, परिवारसे, शरीरसे 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहाँ ? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं; इनके बारेमें अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वरके हैं, 'मैं' उसीका हूँ; 'मेरी' कहलानेवाली इस संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ? इसलिए उपनिषद्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करनेभरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायँ, शून्यवत् होकर रहें तो सहजमें भयमात्रको जीत लें, सहजमें शांति पा जायँ, सत्य-नारायणके दर्शन प्राप्त कर लें।

८. अस्पृश्यता-निवारण

मंगल-प्रभात
९-९-'३०

यह व्रत भी अस्वाद-व्रतकी भाँति नया ह और कुछ विचित्र भी लगता है; पर जितना विचित्र है, उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहाँ-तहाँ धर्ममें, धर्मके नाम या बहानेसे विघ्न डालती है और धर्मको कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं; पर अछूत नहीं हैं, वैसे मृतक (लाश) भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणाका पात्र है। मुर्देको छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवानेके बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उचित है। मुर्देको छूकर या

तेल लगाकर न नहानेवालेको गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चेका मैला उठानेपर माता जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये, तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती है। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कारसूचक हो गये हैं और वह जन्मसे ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनों साबुन बरसोंतक शरीरपर घिसा हो, चाहे वैष्णवका-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखकका पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाशके योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारणको व्रतमें स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता—छुआछूत हिन्दू-धर्मका अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दूका धर्म है, उसका परम कर्तव्य है। अतः उसे पाप माननेवालोंको चाहिए कि उसका प्रायश्चित्त करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित्त-रूपसे भी धर्म समझकर हिन्दूको चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहनको अपनायें, प्रेमपूर्वक सेवाभावसे उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें। अछूतके दुःख दूर करें। कुचले जानेके कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषोंको धैर्यपूर्वक दूर करनेमें उन्हें सहायता दें और दूसरे हिन्दुओंको भी ऐसा करनेको राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यताको इस दृष्टिसे देखते हुए उसे दूर करनेमें होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामोंको व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों, तथापि अस्पृश्यता-निवारणका व्रत-रूपसे आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालोंको अपनायेगा। सत्यादिका आचरण करते हुए हमें ऐहिक फलका विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण

व्रतधारीके लिए कोई युक्ति नहीं है। वह तो उसके शरीरसे लगी हुई वस्तु है; उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता-की बुराई समझमें आ जानेपर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी-चमार कहलानेवाले लोगोंतक ही सीमित रही हो सो बात नहीं है। सड़नका स्वभाव है कि पहले राईके दानेके बराबर लगती है, फिर पर्वतका रूप धारण कर लेती है और अंतमें जिसमें प्रवेश करती है, उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूतके सम्बन्धमें भी है। यह छुआछूत विध-र्मियोंके प्रति आयी है, अन्य सम्प्रदायोंके प्रति आयी है, एक ही सम्प्रदायवालोंके बीच भी घुस गयी है और यहाँतक कि कुछ लोग तो छुआछूतका पालन करते-करते पृथ्वीपर भाररूप हो गये हैं। वे अपने-आपको सँभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीनेसे फुर्सत नहीं पाते, ईश्वरके नामपर ईश्वरको भूलकर वे अपनेको पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी चमारको अपनाकर ही संतोष न मानेगा, वह जीवमात्रको अपनेमें न देखनेतक और अपनेको जीवमात्रमें न होनेतक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करनेका अर्थ है समस्त संसारके साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टिसे अस्पृश्यता-निवारण अहिंसाका जोड़ा बन जाता है और वास्तवमें है भी। अहिंसाके मानी हैं जीवमात्रके प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यता-निवारणका भी यही अर्थ है। जीवमात्र-के साथका भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है। अस्पृश्यताको यों देखनेपर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशोंमें संसारभरमें फैला हुआ है; पर यहाँ हमने उसका हिन्दू-धर्ममें समायी हुई सड़नके रूपमें विचार किया है, क्योंकि हिन्दू-धर्ममें उसने धर्मका स्थान ले लिया है और धर्मके बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्योंकी स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

९. कायिक श्रम

मंगल-प्रभात
१६-९-'३०

कायिक श्रमके मनुष्यमात्रके लिए अनिवार्य होनेकी बात पहले-पहल टॉल्स्टॉयके एक निबन्धसे मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूपसे इस बातको जाननेके पहले, रस्किनका 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़नेके बाद फौरन् ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटीके लिए हर आदमीका मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टॉल्स्टॉयकी नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोहकी है। टॉल्स्टॉयने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आँखें भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरीका अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञके लिए है। यहाँ यज्ञका अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो, हमारे इस व्रतकी यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तुकी ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवालेको खानेका क्या अधिकार हो सकता है? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना"—करोड़पति भी यदि अपने पलंगपर पड़ा रहे और मुँहमें किसीके खाना डाल देनेपर खाय तो बहुत दिनोंतक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूपमें राजा-रंक सभीको अंग-सचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करनेकी ही कसरत सब लोग क्यों न करें? किसानसे हवा

खाने या कसरत करनेको कोई नहीं कहता। और संसारके नब्बे फी सदीसे भी अधिक मनुष्योंका निर्वाह खेतीसे होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसारमें कितना सुख, कितनी शांति और कितना आरोग्य फैले ! यदि खेतीके साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेतीके कामकी अनेक कठिनाइयाँ सहजमें दूर हो जायँ। इसके सिवा यदि कायिक श्रमके इस निरपवाद नियमको सभी मानने लगें तो ऊँच-नीच-का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहाँ उच्चताकी गंध भी न थी वहाँ भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्थामें भी वह घुस गयी है। मालिक-मजदूरका भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीरसे ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटीके लिए खुद मेहनत करें तो ऊँच-नीचका भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा, वह अपनेको मालिक न मानकर उस धनका केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक-सेवाके लिए करेगा। जिसे अहिंसाका पालन करना है, सत्यकी आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक श्रम राम-बाणरूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तवमें देखा जाय तो, खेती ही है। पर आजकी जो स्थिति है, उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेतीका आदर्श ध्यानमें रखकर, आदमी एवजमें दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है, उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवालेका ही अपने मलको गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षोंसे ऐसा मालूम होता रहा है कि जहाँ भंगीका अलग धंधा माना गया है, वहाँ कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्यको किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवालेने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सभी भंगी हैं, यह भावना

हमारे दिलमें बचपनसे दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करनेका सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों, वे कायिक श्रमका आरंभ पाखाना साफ करनेसे करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा, वह उसी क्षणसे धर्मको भिन्न और सच्चे रूपमें समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोगसे अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने। बालकका समावेश मातामें हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोगके होनेकी बात ही क्या है?

१०. सर्वधर्म-समभाव

१

मंगल-प्रभात
२३-९-'३०

हमारे व्रतोंमें सहिष्णुताके नामसे परिचित व्रतको यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसन्द न था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काकासाहबको भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जँचा। दूसरे धर्मोंको सहनेकी भावनामें उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदरमें कृपाका भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसाकी दृष्टिसे पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव रखनेके मूलमें अपने धर्मका अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्यकी आराधना, अहिंसाकी कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्यको यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्यके आग्रहकी क्यों बात थी? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्यको पहचानते नहीं हैं; इसलिए उसका आग्रह करते हैं।

इसीसे पुरुषार्थकी गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णताकी स्वीकृति आ गयी है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही, जैसे ईश्वरको नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होनेसे ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्यकी ओर, ईश्वरकी ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मोंको अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसीको ऊँच-नीच माननेकी बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोषके पात्र हैं। समभाव होनेपर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपनेमें भी दोष देखना चाहिए। उस दोषके कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोषको दूर करें। इस प्रकार समभाव रखनेसे दूसरे धर्मोंके ग्राह्य अंशको अपने धर्ममें लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होनेके कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होनेके कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वर-दत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषामें मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टिसे, जबतक वह दृष्टि बनी है तबतक, सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मोंके प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्मके प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्त्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मोंके प्रति समभाव आनेपर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्यदर्शनमें उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होनेपर अंतराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभावके विकाससे हम अपने धर्मको अधिक पहचान सकते हैं।

यहाँ धर्म-अधर्मका भेद नहीं मिटता। यहाँ तो उन धर्मों-की बात है, जिन्हें हम निर्धारित धर्मके रूपमें जानते हैं। इन सभी धर्मोंके मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभीमें सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मोंके प्रति समभाव-में, और धर्मियों––मनुष्यके प्रति जिस समभावकी बात है उसमें, कुछ अन्तर है। मनुष्यमात्र––दुष्ट और श्रेष्ठके प्रति, धर्मी और अधर्मीके प्रति समभावकी अपेक्षा है, पर अधर्मके प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मोंकी आवश्यकता क्या है? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देहकी असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्माकी एकताको हम पहचान सकते हैं। धर्मका मूल एक है जैसे वृक्षका; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

११. सर्वधर्म-समभाव

२

मंगल-प्रभात
३०-९-'३०

यह विषय इतने महत्त्वका है कि इसे यहाँ और विस्तारसे लिखना चाहता हूँ। अपना कुछ अनुभव लिख दूँ तो शायद समभावका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहाँकी तरह फिनिक्स-में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहाँ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्रायः उप-स्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजीको 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजीनुं नाम' (मुझे राम-नाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लासमें बोल उठे, "'दादा रामजी' के बदल 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने

और गानेवालोंने इस सूचनापर तुरन्त इस तरह अमल किया, मानो वह बिलकुल स्वाभाविक हो। और इसके बादसे रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वह न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नामसे गाते। स्व० दाऊद सेठका पुत्र हुसेन तो आश्रममें बहुत बार रहता। वह प्रार्थनामें उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुरमें 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चंद रोज' गाया करता और वह भजन हम सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थनामें गाया जाता था। हमारे यहाँकी आश्रम-भजनावलीमें उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेनकी स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परतासे सत्यका आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रममें अकसर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीतका उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थानपर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिये' अलाप दिया। सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफके आनन्दका पारावार न रहा।

आत्मसंतोषके लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तकें उलट रहा था, तब मैंने ईसाई, इसलाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू, इतनोंकी पुस्तकोंका अपने संतोषभरके लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूँ कि इस अध्ययनके समय सभी धर्मोंके प्रति मेरे मनमें समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्दका भी पूरा परिचय न रहा होगा; परन्तु उस समयकी अपनी स्मृतियाँ ताजी करता हूँ तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मोंके सम्बन्धमें टीका-टिप्पणी करनेकी इच्छातक हुई हो। वरन् उनके ग्रन्थोंको धर्म-ग्रन्थ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी थी।

आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभवसे देखता हूँ कि जिसे हम नहीं समझ सकते, वह गलत ही है, यह माननेकी जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझमें नहीं आती थीं, वे आज दीपककी तरह दिखाई देती हैं। समभावका अभ्यास करनेसे अनेक गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हमें दोष ही दिखाई दें, वहाँ उन्हें दरसानेमें भी नम्रता और विवेक होनेके कारण किसीको दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेखमें मैंने कहा है कि धर्म-धर्मका भेद रहता है और धर्मके प्रति समभाव रखनेका अभ्यास करना यहाँ उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्मका निर्णय करनेमें ही क्या समभावकी शृंखला नहीं टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभावसे बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्मका आचरण करनेवालेके प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखायेगा। या दोनों एक-दूसरेके मतभेदको सहन करेंगे। अन्तमें विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरतासे काम लेगा। फिर भी हम अहिंसाके सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरताको अवश्य दूर कर देगी। दूसरेको, भूलके लिए भी, हमें पीड़ा नहीं पहुँचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियमका पालन करनेवाला सभी संकटोंमेंसे बच जाता है।

१२. नम्रता

मंगल-प्रभात
७-१०-'३०

इसका व्रतोंमें पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसाका यह एक अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत

है; परन्तु नम्रता अभ्याससे प्राप्त नहीं होती, वह स्वभावमें ही आ जानी चाहिए। जब आश्रमकी नियमावली पहले-पहल बनी, तब मित्रोंके पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जीने नम्रताको व्रतोंमें स्थान देनेकी सूचना की थी और तब भी उसे व्रतोंमें स्थान न देनेका मैंने वही कारण बतलाया था, जो यहाँ लिख रहा हूँ। यद्यपि व्रतोंमें उसे स्थान नहीं है, तथापि वह व्रतोंकी अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है। आवश्यक तो है ही; परन्तु नम्रता किसीको अभ्याससे प्राप्त होती नहीं देखी गयी। सत्यका अभ्यास किया जा सकता है, दयाका अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रताके सम्बन्धमें कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दम्भका अभ्यास करना है। यहाँ नम्रतासे तात्पर्य उस वस्तुसे नहीं है, जो बड़े आदमियोंमें एक-दूसरेके सम्मानार्थ सिखायी-पढ़ायी जाती है। कोई बाहरसे दूसरेको साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मनमें उसके सम्बन्धमें तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं, लुच्चई है। कोई राम-नाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि सरीखा बनकर समाजमें बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादिका नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रताका नहीं। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्रका उदाहरण तो आश्रममें हम लोगोंने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यतातक पहुँच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मनमें घुसा कि नम्रता हवा हो गयी और हमारे सभी व्रत मिट्टीमें मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मनमें अपने व्रत-पालनका गर्व रखे तो व्रतोंका मूल्य खो देगा और समाजमें विषरूप हो जायगा। उसके व्रतका मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रताका अर्थ है, अहंभावका आत्यंतिक क्षय। विचार करनेपर मालूम हो सकता

है कि इस संसारमें जीवमात्र एक रजकणकी अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीरके रूपमें हम लोग क्षणजीवी हैं। कालके अनन्त चक्रमें सौ वर्षका हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्करसे बाहर हो जायँ, अर्थात् 'कुछ नहीं' हो जायँ, तो हम सब-कुछ हो जायँ। होनेका अर्थ है ईश्वरसे--परमात्मासे--सत्यसे--पृथक् हो जाना। कुछका मिट जाना परमात्मामें मिल जाना है। समुद्रमें रहनेवाला बिंदु समुद्रकी महत्ताका उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्रसे अलग होकर ज्योंही अपनेपनका दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवनको पानीके बुलबुलेकी उपमा दी गयी है, इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता--शून्यता--अभ्याससे कैसे आ सकती है? पर व्रतोंको सही रीतिसे समझ लेनेसे नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है? दूसरेके लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहाँ घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्योछावर करनेका निश्चय किया, तभी अपनी देहको फेंक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलायेगी? हिन्दू-धर्ममें ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्यको, पाखंडको स्थान मिल गया है। वास्तवमें नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परन्तु वह सब परमार्थके लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक साँस काम करता रहता है, अँगड़ाई लेनेतकका अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायँ, उसमें मिल जायँ तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया--हो जाना चाहिए। समुद्रसे अलग हो जानेवाले बिंदुके लिए हम आरामकी कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्रमें रहनेवाले बिंदुके लिए आराम कहाँ? समुद्रको एक क्षणके लिए भी आराम कहाँ मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बन्धमें है। ईश्वररूपी समुद्रमें हम मिले और

हमारा आराम गया, आरामकी आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महाअशांतिमें शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवनमात्रकी सेवाके लिए सर्वार्पणकी आशा रखती है। सबसे निवृत्त हो जानेपर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार। इस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभवगम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करनेके उद्देश्यसे ही हम लोग आश्रममें एकत्र हुए हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियाँ यह अनुभव करनेके लिए ही हैं। यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीकी खोजमें जानेसे वह प्राप्त नहीं है।

१३. स्वदेशी

प्रवचनोंमें 'स्वदेशी' पर लिखनेका विचार त्याग ही दूँगा; क्योंकि इससे, मैंने राजनैतिक विषयोंको न छेड़नेका जो संकल्प किया है, उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशीपर केवल धार्मिक दृष्टिसे लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयोंसे परोक्ष सम्बन्ध है।

१४. स्वदेशी-व्रत

स्वदेशी-व्रत इस युगका महाव्रत है। जो वस्तु आत्माका धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारणसे आत्माको जिसका भान नहीं रहा, उसके पालनेके लिए व्रत लेनेकी जरूरत पड़ती है। जो स्वभावतः निरामिषाहारी है, उसे आमिषाहार न करनेका व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभनकी चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आयेगी।

स्वदेशी आत्माका धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषयमें व्रत लेनेकी जरूरत रहती है। आत्माके लिए स्वदेशीका अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधोंसे आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओंके साथ एकता स्थापित करनेमें बाधक होती है, उसके मार्गमें विघ्नरूप है। जीवमात्रके साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्मको जानने और पालनेवाला देहका भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहनेवालोंकी सेवामें ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशीकी शुद्ध सेवा करनेमें परदेशीकी भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूरकी सेवा करनेका मोह रखनेमें वह हो नहीं पाती और पड़ोसीकी सेवा छूट जाती है। यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्रामवासियोंको मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था, वह चला गया। दूरवालोंकी सेवा करने जानेमें उनकी सेवा करनेका जिसका धर्म है, वह उसे भूलता है। वहाँका वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़कर चला ही था। यों हर तरहसे उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वाक्यकी उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशीको समझ न पानेसे ही गड़बड़ी होती है। कुटुंबपर मोह रखकर मैं उसे पोसूँ, उसके लिए धन चुराऊँ, दूसरे प्रपंच रचूँ तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म

है, उसे पालना है। उस धर्मकी खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्मके पालनेसे परधर्मी-को या परधर्मको कभी हानि पहुँच ही नहीं सकती, न पहुँचनी चाहिए। पहुँचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभि-मान है, अतः वह त्याज्य है।

स्वदेशीका पालन करते हुए कुटुंबका बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंबकी सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपनेको खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं, वैसे कुटुंबको खोकर कुटुंबकी रक्षा कर सकते हैं। मानिये, मेरे गाँवमें महामारी हो गयी। इस बीमारीके चंगुल-में फँसे हुओंकी सेवामें मैं अपनेको, पत्नीको, पुत्रको, पुत्रियोंको लगाऊँ और इस रोगमें फँसकर मौतके मुँहमें चले जायँ तो मैंने कुटुंबका संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशीमें स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थकी पराकाष्ठा।

इस विचारधाराके अनुसार मैंने खादीमें सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझमें आने योग्य, सभीको जिसके पालनेकी इस युगमें, इस देशमें भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालनेसे भी हिन्दुस्तानके करोड़ोंकी रक्षा हो सकती है, ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवाबमें चरखा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्मके पालनसे परदेशी मिलवालों-को नुकसान होता है। चोरको चुरायी हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवारको या अफीमके दूकानदारको नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीतिसे जो अर्थ साधते हों, उनके उस अर्थ-का नाश होनेमें उनको और जगत्‌को फायदा ही है।

पर जो चरखे द्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-

पहनाकर स्वदेशी धर्मका पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं, वे महामोहमें डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशीकी पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्मकी परिसीमा नहीं है। ऐसे खादी-धारी देखे गये हैं, जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशीका पालन नहीं करते। वे तो प्रवाहमें बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रतका पालन करनेवाला हमेशा अपने आसपास निरीक्षण करेगा और जहाँ-जहाँ पड़ोसीकी सेवा की जा सकती है अर्थात् जहाँ-जहाँ उनके हाथका तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा, वहाँ-वहाँ वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महँगी और कम दर्जेकी ही क्यों न हो। इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवानेका प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काममें नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएँमें डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेशमें नहीं बनती अथवा महाकष्टसे ही बन सकती है, वह परदेशके द्वेषके कारण अपने देशमें बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी-का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशीमें किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेममेंसे, अहिंसामेंसे पैदा हुआ सुंदर धर्म है।

१५. व्रतकी आवश्यकता

मंगल-प्रभात
१४-१०-'३०

व्रतके महत्त्वके सम्बन्धमें मैं जहाँ-तहाँ इस लेखमें लिख गया होऊँगा; परन्तु व्रत जीवनके गठनके लिए कितने आवश्यक हैं, यहाँ इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतोंके संबंधमें लिख चुकनेके बाद अब उन व्रतोंकी आवश्यकतापर विचार करेंगे।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमोंका पालन करना उचित है, पर उनके सम्बन्धमें व्रत लेनेकी आवश्यकता नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मनकी निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेनेके बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्य है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरणके लिए शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गयी तो क्या हुआ ? दवाकी भाँति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीनेका व्रत, यह तो गलेमें फंदा डालनेके समान है। और जो बात शराबके बारेमें है, वही बात दूसरी चीजोंके बारेमें है। झूठ भी भलाईके लिए क्यों न बोला जाय ? मुझे इन दलीलोंमें तत्त्व नहीं दिखाई देता। व्रतका अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनोंको पार कर जानेके लिए ही तो व्रतकी आवश्यकता है। असुविधा सहन करनेपर भी जो भंग न हो, वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसारका अनुभव इस बातकी गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चयके बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो, उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता। वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अंतमें पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करनेका धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तुके लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरणकी हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंधमें व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टांतमें तो पापका आभासमात्र संभव है। सत्य कहनेसे किसीकी हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्यसे इस संसारमें किसीकी हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्य-पानके विषयमें भी यही बात है। या तो इस व्रतमें दवाके

लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रतके पीछे शरीरके लिए जोखिम उठानेका भी निश्चय रहना चाहिए। दवाके तौरपर भी शराब न पीनेसे शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीनेसे शरीर रहेगा ही, इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारणसे न रहा तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी ? इसके विपरीत, शरीर-रक्षाके लिए भी शराब न पीनेके दृष्टांतका चमत्कारिक प्रभाव शराबकी लतमें फँसे हुए लोगोंपर पड़े तो संसारका कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्मका पालन करना ही है--ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वरकी झाँकी कर सकते हैं। व्रत लेना निर्बलता-का सूचक नहीं, वरन् बलका सूचक है। अमुक बातका करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नामसे पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परन्तु 'जहाँतक हो सकेगा, करूँगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमानका परिचय देता है, भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे। इसमें नम्रताकी गंधतक नहीं है। मैंने अपने और बहुतोंके जीवनमें देखा है कि 'जहाँतक हो सकेगा', यह शब्दावली शुभ निश्चयोंमें विषके समान है। 'जहाँ-तक हो सकेगा', वहाँतक करनेके मानी हैं पहले ही अड़चनके सामने गिर पड़ना। 'सत्यका पालन जहाँतक हो सकेगा करूँगा', इस वाक्यका कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापारमें यथासंभव अमुक तारीखको अमुक रकम चुका दी जायगी, इस तरहकी चिट्ठी, चेक या हुंडीके रूपमें स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहाँतक हो सकेगा, वहाँतक सत्य-पालन करनेवालेकी हुंडी भगवान्की दूकानमें नहीं भुनायी जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चयकी, व्रतकी सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके नियमोंसे एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है, उससे संसारका काल-निर्माण होता है

और शुद्ध पंचांगोंकी रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपनेको सुरक्षित पाते हैं। व्यापार-मात्र एक पक्की प्रतिज्ञाके आधारपर चलते हैं। व्यापारी एक-दूसरेके प्रति वायदेसे बँधे न हों तो व्यापार ही न चले। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहाँ हमारे अपने जीवनके गठनका प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन करनेका प्रश्न हो, वहाँ व्रतके बिना कैसे काम चल सकता है? इसलिए व्रतकी आवश्यकताके विषयमें हमारे मनमें कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

●

मननीय एवं पठनीय साहित्य

गांधी-साहित्य

महादेवभाई की डायरी	(खण्ड १ से ७)	प्रत्येक	८.००
बापू की गोद में	नारायण देसाई		२.५०
बापू के चरणों में	विनोबा		१.२५
गांधी-पुण्य-स्मरण	दादा धर्माधिकारी		०.७५
बापू की मीठी-मीठी बातें (२ भाग)	साने गुरुजी	प्रत्येक	१.५०

अध्यात्म-साहित्य

गीता-प्रवचन	विनोबा	२.५०
नामघोषा-सार	,,	१.५०
भागवत-धर्म-सार	,,	१.५०
भागवत-धर्म-मीमांसा	,,	२.००
प्रेरणा-प्रवाह	,,	२.००
जपुजी	,,	१.५०
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	,,	१.००
राम-नाम : एक चिन्तन	,,	०.६०
नाममाला	,,	१.००
अध्यात्म-तत्त्व-सुधा	,,	२.००
आत्मज्ञान और विज्ञान	,,	२.५०
स्थितप्रज्ञ-लक्षण	बालकोबा भावे	१.५०
जीवन-साधना	,,	२.००

महावीर-वाणी	बेचरदास दोशी	५.००
ताओ-उपनिषद्	मनोहर दिवाण	१.००
धर्मों की फुलवारी	श्रीकृष्णदत्त भट्ट	०.७५
वैदिक धर्म क्या कहता है ? (३ भाग)	,,	प्रत्येक ०.७५
जैन धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
बौद्ध धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
पारसी धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
यहूदी धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
ताओ और कन्फ्यूश धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
ईसाई धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
इसलाम धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
सिख धर्म क्या कहता है ?	,,	०.७५
समन्वय-संस्कृति की ओर	काकासाहब कालेलकर	४.००
समय और हम	जैनेन्द्रकुमार	१२.००

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी